महर्षि दयानन्द सरस्वती की
उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा
का मुखपत्र

*विद्याविलाससमनसो धृतशीलशिक्षा:,
सत्यव्रता रहितमानमलापहारा:।
संसारदु:खदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्म परोपकारा:।।*

वर्ष : ६३ **अंक :** १४
दयानन्दाब्द: १९७
विक्रम संवत्: आषाढ़ शुक्ल २०७८
कलि संवत्: ५१२२
सृष्टि संवत्: १,९६,०८,५३,१२२

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक- परोपकारिणी सभा,
केसरगंज, अजमेर- ३०५००१
दूरभाष: ०१४५-२४६०१६४

मुद्रक-मन्त्री, परोपकारिणी सभा
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
दूरभाष : ०१४५-२४६०८३१

परोपकारी का शुल्क

भारत में
एक वर्ष-३०० रु.
पाँच वर्ष-१२०० रु.
आजीवन (१५ वर्ष) -३००० रु.
एक प्रति - १५/- रु.

विदेश में
वार्षिक-५० यू.के. पाउण्ड/८० यू.एस.डॉलर
द्विवार्षिक-९५ पाउण्ड/१५२ डॉलर
त्रिवार्षिक-१४० पाउण्ड/२२५ डॉलर
आजीवन (१५वर्ष)-५००पा./८०० डॉ.
एक प्रति - ३ पाउण्ड
एक प्रति - ४ डॉलर

वैदिक पुस्तकालय : ०१४५-२४६०१२०
ऋषि उद्यान : ०१४५-२६२१२७०

RNI. No. ३९५९ / ५९

जुलाई द्वितीय २०२१

अनुक्रम

०१. प्राचीन भारत में पशुयज्ञ और...	सम्पादकीय	०४
०२. अग्नि सूक्त-०८	डॉ. धर्मवीर	०८
०३. कुछ तड़प-कुछ झड़प	प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	११
०४. क्या वेदों में वानप्रस्थ संन्यास...	धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड	१५
०५. मनुष्य का शत्रु अहंकार : कारण...	कन्हैयालाल आर्य	२१
०६. ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं	आ.विरजानन्द दैवकरणि	२५
०७. सनातनियों के उत्तरित प्रश्नों पर...	डॉ. रामप्रकाश वर्णी	२७
०८. संस्था की ओर से...		३१
०९. वैदिक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित नया साहित्य		३३
१०. 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रचार महायज्ञ में आपकी आहुति		३४

www.paropkarinisabha.com
email : psabhaa@gmail.com

उपनिषद्, दर्शन, प्रवचन आदि सुनने हेतु बटन दबाएँ
www.paropkarinisabha.com→gallery→videos

*'परोपकारी' पत्रिका में प्रकाशित सभी आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के निजी हैं। इन्हें सम्पादकीय नीति नहीं समझा जाये।
किसी भी विवाद की परिस्थिति में न्यायक्षेत्र अजमेर ही होगा।*

प्राचीन भारत में पशुयज्ञ और गोमांस भक्षण : आक्षेप और समाधान-१

वैदिक संस्कृति सभ्यता को दूषित करने की दुरभिसन्धि रचनेवाले विरोधी लोग वेदों में गोमेध, गोबलि, अश्वमेध आदि शब्दों का अप-अर्थ करके प्राचीन वैदिक भारत में पशुओं और गोमांस भक्षण की परम्परा को सिद्ध करने का बार-बार प्रयास करते हैं।

वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य वेदों, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, प्रामाणिक सूत्रग्रन्थों में कहीं भी 'गोमेध' या 'गोबलि' शब्दों का प्रयोग ही नहीं है। जब इन अनुष्ठानों का नाम ही नहीं है तो इनको वैदिक परम्परा कदापि नहीं माना जा सकता?

इसी प्रकार चारों वेदों में यज्ञवाचक 'अश्वमेध' शब्द का प्रयोग भी नहीं है। ऋग्वेद में अश्वमेध ऋषि का नाम है और उस सूक्त में व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है। यजुर्वेद में प्राकृतिक पदार्थों के साथ परिगणन होने से प्राकृतिक पदार्थ का द्योतक है। इसी प्रकार 'नृमेध' भी एक ऋषि का नाम है। इन नामों के अर्थ में हिंसा या बलि अर्थ की गन्ध भी नहीं है।

अश्वमेध मूलत: एक राष्ट्रसम्बन्धी यज्ञ और इसका लक्ष्य है- राष्ट्र का विस्तार, राष्ट्रसमृद्धि, चक्रवर्ती सत्ता की स्थापना। गोपथ (१.५.८) और तैत्तिरीय (३.८.९.४) ब्राह्मणों में विधान है कि चक्रवर्ती बन चुका अथवा बनने के सामर्थ्य वाला राजा ही इसको कर सकता है। उसके बाद उसे 'स्वराट्' चक्रवर्ती राजा का पद प्राप्त होता था। अश्वमेध के इस मुख्य अर्थ का बोध कराने के लिए शतपथ ब्राह्मणकार ने कम से कम तीन स्थलों पर राष्ट्रवृद्धि और राष्ट्रसंचालन रूप कर्म को अश्वमेध यज्ञ कहा है। एक प्रमाण है-

''राष्ट्रं वै अश्वमेध:।
राष्ट्र एते व्यायच्छन्ति ये अश्वं रक्षन्ति।''

(१३.१.६.३)

अर्थात् 'राष्ट्ररक्षा रूप कर्म को अश्वमेध कहते हैं। जो ये अश्व की रक्षा करते हैं वे राष्ट्र की रक्षा करते हैं।' इस व्युत्पत्ति में अश्व राष्ट्र का पर्याय है और मेध यज्ञ का पर्याय है। इस आधार पर इसे पर्याय रूप में 'राष्ट्रमेध' या 'राष्ट्रयज्ञ' कहना वैदिक ग्रन्थों के अनुकूल है। इतना ही नहीं, एक स्थल पर ''**अश्वं वै क्षत्र:**'' (१३.२.२.१५) कहकर अश्व का पर्याय क्षत्रिय माना जाता है, क्योंकि यह क्षत्रिय का अनुष्ठान है इसलिए इसे 'क्षत्रमेध' या 'क्षत्रयज्ञ' भी कहा जा सकता है। आधिदैविक प्रकरणों में चन्द्रमा और सूर्य को भी अश्व कहा है जिनके आधार पर आज तक सूर्य की छवि की अश्वरथयुक्त आलंकारिक प्रकल्पना प्रचलित है। अश्व पशु के सन्दर्भ में इसको अश्वमेध या अश्वयज्ञ इसलिए कहा है कि क्योंकि इस यज्ञ में अश्व को परिभ्रमण के लिए छोड़ा जाता है और चुने हुए योद्धा अश्व के साथ-साथ मेध अर्थात् संगति करते हैं, चलते हैं। जिन-जिन प्रदेशों से वह अश्व गुजरता है, उन्हें अपने अधीन करके, कर लेकर, योद्धा अश्वसहित लौट आते हैं। फिर विजयोत्सव के रूप में बृहद् यज्ञ के आयोजन के साथ, अश्वप्रस्थान के प्रथम दिवस से प्रारम्भ यह अनुष्ठान सम्पन्न होता है। इस अवसर पर विशाल भोज का आयोजन होता है जिसमें मित्र राजा, अधीन राजा और प्रजाएं भाग लेती हैं। हिंसा या बलि नहीं होती। वाल्मीकि रामायण में राम के अश्वमेध का महाभारत (शान्ति ३३६) में राजा उपरिचर वसु के अश्वमेध का विस्तृत वर्णन है। वहाँ किसी भी प्रकार की हिंसा का उल्लेख नहीं है, अपितु स्पष्ट निषेध है- '**न तत्र पशुघातो अभूत्**' वहाँ किसी पशु का वध नहीं हुआ।

व्याकरण के अनुसार 'मेध' शब्द 'संगम' अर्थ वाली 'मेधृ' धातु से बना है जिसका प्रयोग संगति, एकत्रीभाव, समृद्धि आदि अर्थों में है। यही इसका मौलिक अर्थ है। यज्ञ में भी 'यज्' धातु संगतीकरण, देवपूजा और दान अर्थ वाली है, अत: दोनों शब्द पर्यायवाची हैं (निघण्टु कोश ३.१७)। प्राचीन वैदिक शब्दों में यही अर्थ विद्यमान हैं। गृहमेध या गृहयाग का अर्थ है गृहस्थ द्वारा परिजनों के साथ मिलकर किये जाने वाले यज्ञ अथवा गृहस्थ रूप यज्ञ। इसी आधार पर गृहस्थ को 'गृहमेधिन्' कहा जाता था

(गोपथ ब्राह्मण १.५.९, २.५.३; रघुवंश १.७; आप्टे का संस्कृत कोश)। नृमेध और नृयज्ञ (विष्णुधर्मसूत्र ५.९.२५) व अतिथियज्ञ, ये पर्यायवाची रूप में लौकिक संस्कृत में भी प्रचलित रहे हैं (मनुस्मृति ३.७०; वामन आप्टे का संस्कृत कोश 'नृ' शब्द)। ऐसे ही पितृमेध या पितृयज्ञ का अर्थ 'पितृतर्पण' अर्थात् माता-पिता आदि पितरों की सेवा शुश्रूषा, जो बाद में पुराणों में मृत पितर तर्पण के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। यदि कोई अश्वमेध और नृमेध का बलात् क्रमशः अश्वबलि और नरबलि अर्थ करेगा भी तो उसे यज्ञों के ही प्रसंग में पठित गृहमेध का 'गृहबलि' और पितृमेध का 'मृतपितरों की बलि' या 'माता-पिता आदि की बलि' करना पड़ेगा, जो अनर्गल प्रलाप ही माना जायेगा। इन सब शब्दों में 'मेध' का संगमन अर्थ ही मौलिक एवं संगत बनता है। इसी प्रकार यदि 'गोमेध' का वैदिक सन्दर्भ में प्रयोग किया जायेगा तो उसका अर्थ भी 'गोवृद्धि', 'गोसंवर्द्धन' ही होगा, गोबलि नहीं। कुछ सूत्रग्रन्थों में 'गोयज्ञ' शब्द आता है। उसके अर्थ का प्रमाण लीजिए-

''**गावो भग इति द्वाभ्यां गोयज्ञस्य**'' सूत्र की व्याख्या में लिखा है ''**गवां प्रसूतानां स्वास्थ्यं पुनः सगर्भग्रहणाद्यर्थो वसन्ते यज्ञो गोयज्ञः।'' गोयज्ञे गोमंगल्यम्**'' (काठकगृह्यसूत्र १७-१; डॉ. विलेम कालण्ड द्वारा सम्पादित)= वसन्त में प्रसूत गायों के स्वास्थ्य को समर्थ करने के उपाय विशेष करने तथा गायों, बैलों के कल्याण अर्थात् सुख-समृद्धि हेतु अनुष्ठान करना 'गोयज्ञ' कहलाता है। यहाँ गो से सम्पूर्ण गोजाति अभिप्रेत है। वैसे, वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में 'बलि' का अर्थ भी 'पशुबलि' नहीं है। इस शब्द के अर्थ भोजन में से खाने से पूर्व प्राणियों के लिए निकाला गया भोजनांश, भेंट, कर (टैक्स), आहुति आदि। प्रतिदिन किये जाने वाले पाँच में एक बलि-यज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ है। इसमें गृहस्थ प्रतिदिन अपने भोजन में से कौवा, कुत्ता, बिल्ली आदि के खाने के लिए भोजन का अंश निकालकर उन्हें देता है। उस अंश का क्रमशः नाम होता है- काकबलि, श्वबलि, मार्जारबलि। संस्कृत व्याकरण का नियम है कि बलि शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति ही होगी। नियमानुसार इन शब्दों के अर्थ होंगे- कौवे के लिए बलि (कौवे की बलि नहीं), कुत्ते के लिए बलि (कुत्ते की बलि नहीं), बिल्ली के लिए बलि आदि। इसी प्रकार संस्कृत का अश्व के लिए बलि, 'गोबलि' का गाय के लिए बलि (जिसको गोग्रास भी कहते हैं) अर्थ ही व्याकरण के नियमानुसार करना पड़ेगा। 'अश्व की बलि' और 'गाय की बलि' अर्थ करेंगे तो वे व्याकरण के विरुद्ध अर्थ होंगे और जानबूझकर विकृत किये गये अर्थ कहलाएंगे।

कुछ आपत्तिकर्त्ता कहते हैं- ''वेद में गाय को 'अघ्न्या' तो कहा गया है, परन्तु वह सब गायों के लिए नहीं, बल्कि एक विशिष्ट गाय के लिए कहा गया है।'' 'अघ्न्या' शब्द का अर्थ भी निर्विवाद नहीं है।'' ''अघ्न्या का अर्थ 'अवध्या' क्योंकर किया जाए? यहाँ भी इसका अर्थ 'अप्राप्तव्या' या 'अप्राप्या' क्यों न किया जाए?'' ''अघ्न्या विशेषण दुधारू गाय के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है, अन्यत्र नहीं'' आदि।

आक्षेपकर्त्ताओं ने ये जो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं, ये वेदार्थपरम्परा के प्रतिकूल, प्रमाणरहित, वैदिककोश के विरुद्ध तथा व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण हैं। आरोपकर्ताओं ने अपने कथन में वेदों के मर्मज्ञ आचार्य यास्क को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। प्रथम, मैं उन्हीं के प्रमाणों से उक्त आपत्तियों का उत्तर प्रस्तुत करता हूँ।

(१) आचार्य यास्क ने वैदिक कोश निघण्टु में गाय के नौ पर्यायवाची संज्ञा शब्द दिये हैं। वे हैं ''अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदितिः, इला, जगती, शक्वरी, इति नव गो- नामानि'' (२.११)। यहाँ सभी गायों अर्थात् सम्पूर्ण गाय जाति की ''अघ्न्या' संज्ञा मानी है। दुधारू और अदुधारू गाय का कोई भेद नहीं है।

(२) पुनः निरुक्त ११.४३ में अघ्न्या की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं एक, ''अहन्तव्या भवति'' वह अवध्या है। दूसरी, ''अघघ्नी वा''=अघ्न्या पापनाशिनी है। आचार्य यास्क ने इसके दो उदाहरण दिये है। पहला मन्त्र सर्वसामान्य गाय का वर्णन करता है और उसमें सभी गायों को 'अघ्न्या' कहा है। दूसरे मन्त्र में दुधारू गाय का वर्णन है। आरोपकर्ताओं ने बड़ी चतुराई से पहले मन्त्र को उद्धृत करने से छोड़ दिया है और दूसरे को उद्धृत किया है। वह पहला मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है-

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्त स्याम।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।।

(निरुक्त ११.४४) (ऋग्वेद १.१६४.४०)

अर्थात्- ''उत्तम तृणों का भक्षण करते हुए वस्तुत: भाग्यवती हो। अत: ऐसा हो कि हम अब भाग्यवान् हों। हे गौ! घास खा, भ्रमण करते हुए सर्वदा स्वच्छ जल का पान कर।'' (आचार्य यास्ककृत अर्थ का हिन्दी अनुवाद, प्रो. लक्ष्मणस्वरूप भाष्य)

इस मन्त्र में अदुधारू गाय को अघ्न्या कहा है। ऐसे अन्य मन्त्र भी हैं। विस्तारभय से एक ही प्रमाण दिया है।

(३) आक्षेपकर्त्ता जो दूसरा मन्त्र उद्धृत करते हैं, अब उस पर विचार किया जाता है। अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने मन्त्रार्थ को दो स्थलों पर बदल दिया है जिससे दो व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ आ गई हैं। उनका अर्थ है-

''**दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।।**''

(ऋग्वेद १.१६४.२७)

दोनों अश्विनीकुमारों को दूध पिलानेवाली 'यह' गाय 'अघ्न्या' (पापनाशिनी) है। यह हमारा सौभाग्य बढ़ाए।'' (पृष्ठ ४४)

इसका सही अर्थ है- ''इयम् अघ्न्या=यह अघ्न्या अर्थात् गाय, अश्विभ्यां दुहाम्=अश्विदेवों के लिए दुग्ध प्रदान करे और महते सौभगाय वर्धताम्=हमारी महत्तर समृद्धि के लिए वृद्धि को प्राप्त हो।'''

(प्रो. लक्ष्मणस्वरूप भाष्य)।

आक्षेपकर्त्ताओं ने ''यह गाय 'अघ्न्या' (पापनाशिनी) है'' अर्थ करके 'अघ्न्या' को गाय का विशेषण बना दिया है जबकि मन्त्र में 'अघ्न्या' संज्ञा पद है। संज्ञा पद को विशेषण बनाना व्याकरण के नियमों के अनुसार अशुद्ध है। ऐसा करके यह अर्थपरिवर्तन कर लिया गया है कि यह गाय दुधारू अवस्था में 'अवध्या' (उनके अनुसार 'पापनाशिनी') है, जबकि संज्ञा पद रहते इसका अर्थ होगा कि वह सदैव 'अवध्या' है।

दूसरी त्रुटि है- 'वर्धताम्' क्रियापद (प्रथम पुरुष, एक वचन, लोट् लकार) अघ्न्या के लिए है, हमारे अर्थात् उत्तम पुरुष के लिए नहीं। इसमें गाय के प्रति=श्रद्धापूर्ण कामना है कि वह वर्धताम्-बढ़े। इस अर्थ से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज की गाय के प्रति आदरपूर्वक भावना है। अपने साथ गाय की वृद्धि की भी (वध की नहीं) कामना है।

(४) प्रत्येक गाय 'अवध्या' है, इसका निर्देश और पुष्टि गाय की 'अदिति' संज्ञा से भी मिलते हैं। 'दो-अवखण्डने' धातु से 'दिति' शब्द बनता है; निषेधार्थ में 'अदिति'। इसका अर्थ है-'न घायल करने योग्य, न मारने योग्य'। नामों में पठित 'इला' नाम भी गाय के प्रति आदर भाव का द्योतक है 'इला' अर्थात् स्तुत्या, आदरणीया। यह उसी 'इल् स्तुतौ' धातु से बना है जिसके रूप 'इल्य:' को अल्लाह का ध्वनिसाम्ययुक्त रूप बतलाकर उसका 'पूजनीय' अर्थ किया जाता है। कुरान के मुस्लिम भाष्यकार भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। पूज्य-पूजक भाव में वध की तो कल्पना भी नहीं होती। इसी प्रकार ऋग्वेद में गाय को 'माता' का सम्मानित पद भी दिया है। (८.१०१.१५)।

(५) महाभारत (शान्तिपर्व २६२.४७) मैं सभी गायों को अवध्या कहकर उनके वध का निषेध किया है- ''**अघ्न्या इति गवां नाम को एतां हन्तुमर्हति**''=अघ्न्या गायों का नाम है, अत: किसी को इनके वध का अधिकार नहीं है। यहाँ भी दुधारू-अदुधारू का कोई भेद नहीं है। सबका वध निषिद्ध है।

(६) वेदों और वैदिक साहित्य में एक-दो बार नहीं, सैकड़ों की संख्या में 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग है। बहुतायत रूप में प्रयुक्त यह शब्द गाय के अवध्यत्व की भावना को पुन: पुन: व्यक्त करता है। वेदों में गाय ही नहीं, बैल और सांड भी अवध्य हैं, क्योंकि उनके लिए अनेक बार 'अघ्न्य' पुल्लिंग पद का प्रयोग है- ''**गवां य: पतिरघ्न्य:**'' (अथर्ववेद ९.४.१७)। इस प्रकार सम्पूर्ण गोजाति अवध्या है।

(७) पाणिनीय उणादिसूत्र (४.११२) से अघ्न्य और अघ्न्या पद सिद्ध होते हैं। उनके अनुसार इन पदों का अर्थ अवध्य और अवध्या है।

(८) जानबूझकर पूर्वाग्रहवश किसी ने 'अघ्न्या' के अर्थ का अनर्थ करने का प्रयास किया हो, उस व्यक्ति की तो मैं कह नहीं सकता, अन्यथा सभी भाष्यकारों और

समीक्षकों ने अघ्न्या का यही स्वीकृत और सुप्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण किया है। वे उसकी उपेक्षा नहीं कर सके। यहाँ तक कि पग-पग पर वैदिक समाज को मांसभक्षी, गोमांस-भक्षी सिद्ध करने का प्रयास करने वाले पाश्चात्य लेखकों और उनके भारतीय अनुयायियों को भी यह स्वीकार करना पड़ा।

क- "The cow receives the epithet 'AGHNYA' not be killed in the Rigveda, and is otherwise a very valued possession. It is difficult to reconcile this with the eating of beef." (Vedic Age, P.393) अर्थात् ऋग्वेद में गौ के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ न मारने योग्य है। वैसे भी गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है या वह बहुमूल्य सम्पत्ति है। इसका गोमांस भक्षण के साथ समन्वय करना कठिन है।

ख- 'वैदिक इंडेक्स' में ए.ए. मैकडॉनल और ए.बी. कीथ लिखते हैं- ऋग्वेद तक गाय एक विशेष पवित्रता अर्जित करने लगी थी, जैसा कि इसके लिए अनेक स्थलों पर प्रयुक्त 'अघ्न्या' (अवध्य) उपाधि से स्पष्ट होता है।' (हिन्दी अनुवाद, रामकुमार राय, मांस शब्द)

इन प्रमाणों स्पष्ट है कि का अघ्न्या का अहन्तव्या अर्थ सुप्रसिद्ध, वेदार्थपरम्परा-स्वीकृत, व्याकरणसम्मत, प्रासंगिक एवं निर्विवाद है। आश्चर्य है कि प्रत्येक पद, पद्यांश, गद्यांश की सप्रसंग व्याख्या पढ़ाने और सिखानेवाले लेखकगण प्रसंगसम्मत, सुप्रसिद्ध अर्थ की उपेक्षा करके गौण और अप्रासंगिक अर्थों की वकालत कर रहे हैं। उनके कहे अनुसार यदि 'पापनाशिनी' अर्थ करेंगे तो उससे गाय के प्रति पूज्य भाव व्यक्त होगा, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। मेरे विचार से इसका लाक्षणिक अर्थ होगा-'जो दूध न देती हो'। ऐसा अर्थ करने से दुधारूगाय का वर्णन करनेवाले मन्त्रों में अघ्न्या शब्द की संगति नहीं लगेगी। साथ ही उनके पहले कथन से परस्पर विरोध उत्पन्न होगा जिसमें उन्होंने दुधारू गाय को ही अघ्न्या माना है। ऐसा मान लेने पर फिर 'अघ्न्य' (बैल और सांड) के सन्दर्भ में क्या अर्थ होगा? प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि सहज और प्रमुख धात्वर्थ को छोड़कर असहज अर्थ को अपनाने का आग्रह क्यों किया जा रहा है? क्या इस कार्य की पृष्ठभूमि में दुर्भावना नहीं झलक रही है? **क्रमशः**

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

एक आहुति अपने आचार्य के लिए........

ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की तन, मन, धन से सेवा करने वाले, उसे अपनी मातृवत् समझने वाले और यहाँ तक कि अपना जीवन समर्पित कर देने वाले डॉ. धर्मवीर आज अपना समस्त भार आर्य जनता अर्थात् अपने उत्तराधिकारियों पर छोड़ गये हैं। उन्होंने ऋषि के स्वप्नों को अपना कर्त्तव्य समझकर सभा को गगनचुंबी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। अनेक नये प्रकल्प चलाये यथा-वैदिक गुरुकुल, गोशाला, आश्रम, अतिथियों के ठहरने व खान-पान की निःशुल्क व्यवस्था आदि। उन्होंने जो-जो कार्य छेड़े उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी न्यूनता न आने दी। परोपकारिणी सभा ऐसे पुत्र को प्राप्त कर गौरव का अनुभव करती है और बिछुड़कर शोकग्रस्त होने का भी। उनके द्वारा शुरु किये कार्य कभी शिथिल न पड़ें, इस कारण **सभा ने डॉ. धर्मवीर जी की स्मृति में एक करोड़ रु. की स्थिर निधि बनाने का संकल्प लिया है,** जिससे कि धन धर्म के काम आ सके। इसमें सन्देह नहीं कि ये समस्त कार्य आर्य जनता के सहयोग से ही प्रारम्भ हो सके हैं और सहयोग से ही चल भी रहे हैं। इसलिये इसमें भी सन्देह नहीं कि सभा के इस संकल्प को आर्य जनता शीघ्र पूर्णता की ओर पहुँचा देगी और शायद उससे भी कहीं बढ़कर। यज्ञ तो हवि माँगता है। बिना हवि के यज्ञ की कल्पना भी क्या? बस देरी तो सूचित होने की है। हवि बनना तो आर्यों के खून में है, तन से, मन से अथवा धन से।

आप अपना दान चैक, ड्राफ्ट या सभा के खाते में सीधे भी भेज सकते हैं। कृपया, राशि भेजने के पश्चात् सभा में दूरभाष या पत्र द्वारा अवश्य सूचित कर दें।

- कन्हैयालाल आर्य - मन्त्री

अग्नि सूक्त-०८

प्रवचनकर्त्ता- डॉ. धर्मवीर

लेखिका - सुयशा आर्य

प्रिय पाठक! परोपकारी पिछले कई वर्षों से आपकी सेवा में डॉ. धर्मवीर जी के वेद प्रवचनों को प्रकाशित कर रहा है। गत अंक में मृत्यु सूक्त का अन्तिम व्याख्यान प्रकाशित हुआ। आप सभी ने उक्त सूक्त को उत्सुकतापूर्वक पढ़ा। आप सबकी इस वेद-जिज्ञासा को ध्यान में रखकर शीघ्र ही यह पुस्तक रूप में भी प्रकाशित कर दिया जायेगा। इस अंक (मार्च प्रथम) से ऋग्वेद के प्रथम सूक्त 'अग्निसूक्त' की व्याख्यान माला प्रारम्भ की जा रही है। प्रवचनों को लेखबद्ध करने का कार्य डॉ. धर्मवीर जी की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती सुयशा जी ही कर रही हैं। -सम्पादक

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।।

हम इस वेद ज्ञान की चर्चा में ऋग्वेद के पहले मण्डल के पहले सूक्त का अध्ययन कर रहे हैं। इसका ऋषि मधुच्छन्दा है, देवता अग्नि, छन्द गायत्री है। दूसरे मन्त्र में हमने जिन शब्दों को देखा मुख्य रूप से उसमें 'ऋषि' पद है जो ज्ञान का, ज्ञानवान का, ज्ञानी का पर्याय है और वह ज्ञानीपन सदा प्राप्तव्य रहा है, पहले लोगों के लिये भी और बाद में आनेवालों के लिये भी, उस ज्ञान की प्राप्ति एक सतत प्रक्रिया है यह वेद बता रहा है। अर्थात् उसको पहले जानने वाले ने जाना है, उतने से भी काम नहीं चलेगा और जो आज हैं उनके जान लेने मात्र से भी काम नहीं चलेगा। यह शृंखला चलती रहेगी और लोग उसको जानते और समझते रहेंगे, क्योंकि उसका लाभ हमें तभी मिलेगा। इस परम्परा को यह वेद मन्त्र बता रहा है कि जैसे ईश्वर को ही जानना है तो एक के जानने से काम नहीं चलेगा और एक जन्म में एक बार जानने से भी काम नहीं चलेगा। हम यदि उसका लाभ पाना चाहते हैं, तो जैसे शीत से पीड़ित व्यक्ति उष्णता को निरन्तर चाहता है, ताकि उसकी शीत की पीड़ा निवृत्त हो जाए वैसे ही उष्णता से पीड़ित व्यक्ति शीत की अपेक्षा करता है और यह उसकी निरन्तरता की अपेक्षा है। मनुष्य जब संसार से जुड़ता है तो वह संसार के सुख-दु:ख से भी जुड़ता है। संसार के सुख-दु:ख से जुड़ने के कारण वह इससे छूटना चाहता है। वह इसके उपाय तक जाता है। जितना पुरुषार्थ था, श्रम था, उतना उसे प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् उसे फिर वापस लौटना पड़ता है।

मनुष्य का जीवात्मा स्वभावत: नित्य, शुद्ध, बुद्ध है। हमारे मन में एक शङ्का पैदा होती है कि जब जीवात्मा सदा ही पवित्र है, नित्य है तो फिर वह संसार के चक्र में आता क्यों है और संसार में वह कष्ट पाता क्यों है? बहुत सारे लोगों की यही समस्या रहती है और यह समस्या अद्वैत वालों के साथ भी है, यह समस्या द्वैत वालों के साथ भी है। द्वैत वालों को तो यह ही समझ में नहीं आता कि एक बार जीव परमेश्वर को प्राप्त हो गया तो उसे लौटकर क्यों आना चाहिये। जब उसको एक बार अच्छाई मिल गई, तो कोई आदमी अच्छाई छोड़कर क्यों आएगा? अद्वैत की समस्या यह है कि जो एक शुद्ध, पवित्र, अखण्ड एकरस ब्रह्म है वह खण्डित होकर जीव क्यों बनेगा? जीव बनने का जो कारण है वह बहुत ही काल्पनिक है और बड़ा अनिश्चित है। किसी कारण से कोई घटना हुई तो मनुष्य उस कारण को दूर करके उसको ठीक कर सकता है, लेकिन वह कौन-सा कारण है, जिसके कारण एक चेतन ब्रह्म अविद्या से जीव बन गया? यदि वह अकारण ही हो गया तो अकारण कभी भी होता रहेगा, न हो इसकी भी क्या गारण्टी है? क्या निदान है? यह समस्या सदा ही है। ऐसी स्थिति में समस्या का हल क्या है? समस्या का हल उसके स्वरूप में है। मनुष्य का जीवात्मा स्वरूपत: अल्प है चाहे वह ज्ञान में हो, शक्ति में हो अथवा स्थान में हो। जब तक इसके यह गुण नहीं मिटेंगे, तब तक इनसे होने वाली बाधा भी नहीं मिट सकती और यही इसका स्वरूप है। स्वरूप है तो कभी भी नहीं मिट सकता। थोड़ी देर के लिये जो अन्तर आता है, वह इसलिये कि स्वरूपत: वह

शुद्ध है, लेकिन अल्पज्ञ है, इसलिये अपनी अल्पज्ञता के कारण से अज्ञान में भी ज्ञान का भान, जड़ में भी चेतन का भान, अनुचित में भी उचित का भान होता है। इसलिये ऋषि दयानन्द यहाँ एक तर्क देते हैं-यद्यपि मनुष्य का आत्मा सत्य-असत्य का जानने हारा है, परन्तु स्वार्थ, अज्ञान और मूढ़ता के कारण वह अन्याय की ओर झुक जाता है, प्रकृति की ओर झुक जाता है और प्रकृति में लाभ को अनुभव करने लगता है। हमारे पास एक ही उपाय बचता है कि हमारी अल्पज्ञता तो कभी समाप्त नहीं होगी, लेकिन इस अल्पज्ञता से होनेवाले दु:ख को हम मिटाने का यत्न कर सकते हैं। वह दु:ख तभी मिटता है जब किसी सर्वज्ञ से हमारा संसर्ग हो जाता है, किसी सर्वज्ञ के साथ हमारा मेल हो जाता है, हमारी निकटता हो जाती है और क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है तो इसकी निकटता सर्वज्ञ के गुणवाली नहीं हो सकती। अर्थात् यह सदा पूर्ण सामर्थ्य से, पूर्ण ज्ञान से उसके साथ बना रहे ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये अल्पज्ञता का जो हानि-लाभ है वह उसे प्राप्त होगा। वह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान एकदेशी जीवात्मा जितने समय के लिये परमेश्वर के संसर्ग में आता है उतने काल तक उसको आनन्द का होना स्वाभाविक है। दोनों चेतन हैं, दोनों शुद्ध-बुद्ध हैं इसलिए आनन्द का अनुभव सहज होता है, हो सकता है। किन्तु मूल बात यह है कि यह निरन्तरता जिस कारण से आयी है वह कारण शाश्वत नहीं है। इसलिये कारण के समाप्त होते ही वस्तु अपने मूल रूप में लौट आती है और मूल रूप में लौटकर आना यदि केवल आत्मा के रूप में है तो उसका कोई अर्थ ही नहीं है। वह न तो जड़ की तरह है न चेतन की तरह है। आत्मा सक्रिय नहीं होने से, शरीरधारी नहीं होने से कुछ भी नहीं कर सकता है और आत्मा क्योंकि प्रकृति की नहीं है इसलिए वह जड़ भी नहीं हो सकता। इसलिये उसको परमेश्वर द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में जो सूक्ष्म शरीर दिया जाता है वह सम्पूर्ण सृष्टि के काल में उसके साथ बना रहता है और उसकी संसार में गति, यात्रा स्थूल शरीर में और स्थूल शरीर से वापस आती-जाती रहती है। शरीर में जन्म लेने से आत्मा कोई न कोई कर्म भी करती ही है। वह अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है। यहाँ से उसके अन्दर एक पाप-पुण्य का जन्म होता है। इसलिए हमारे ऋषियों ने एक बात कही है कि मनुष्य के पाप-पुण्य जब सम हैं तब साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। एक स्थिति तो यह है सम होने की और एक स्थिति यह है कि पाप-पुण्य नहीं ही हैं। जब तराजू में कुछ नहीं है, तब भी सम है और दोनों पलड़ों में कुछ-कुछ है तब भी वह सम है। सम की परिस्थिति दोनों स्थितियों में सम्भव है। जिनको यह सन्देह होता है कि जन्म का कोई संस्कार नहीं है तो उसका जन्म क्यों होना चाहिये, क्योंकि जन्म तो दु:ख के कारण होता है। जन्म दु:ख के कारण भी होता है लेकिन कर्म का जो सुख है उसको पाने के लिये भी तो जन्म की आवश्यकता है। अर्थात् जन्म से केवल दु:ख ही हो रहा है, ऐसा नहीं है। जन्म से दु:ख की मुक्ति भी हो रही है। इस मुक्ति को प्राप्त करने के लिये भी जन्म उतना ही आवश्यक है जितना दु:ख से बचने के लिये। इस रहस्य को ऋषि दयानन्द ने समझा और उन्होंने कहा, यह आत्मा प्रकृति के संसर्ग में आने से प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध बनाता है और इसके कारण फिर से जन्म और मरण के चक्र में चलता रहता है। यह परिस्थिति कभी भी समाप्त होनेवाली नहीं है, क्योंकि दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आनेवाला। परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है और सर्वशक्तिमान् है लेकिन जीव उससे ठीक उल्टा है- वह अल्पज्ञ है, एकदेशी है और अल्पज्ञ शक्तिमान है। यह हमारा शाश्वत स्वरूप अपरिवर्तन वाला है, इसलिए इस संसार का चक्र भी निरन्तर चलते ही रहनेवाला है, कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। यहाँ पर जो मूलभूत बात कही कि वह जीवात्मा उस सुख के लिये, परमात्मा के संसर्ग में पहले भी आता था, आज भी छूटकर वहाँ जाने की इच्छा है और क्योंकि उसका स्वरूप ऐसा ही रहना है इसलिए आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। इसलिए यह नियम भी शाश्वत है, निरन्तरता वाला है। इसलिये वेद ने जो शब्द प्रयोग किया है- **अग्नि: पूर्वेभि: ऋषिभि: ईड्य नूतनैरुत।** अर्थात् ऋषि का ऋषित्व केवल पहले होता था आज नहीं होगा, आज है या आगे नहीं होगा, ऐसा नहीं है। ऋषित्व सदा प्राप्त की जानेवाली योग्यता है। उस ऋषित्व को पहले भी लोगों ने प्राप्त किया है और जो भी उस रास्ते पर चलेंगे उनको भी वह ऋषित्व

प्राप्त होगा। उस ऋषित्व से ही जो लाभ हमको कभी पहले मिला है या हमारे पूर्वजों को मिला है उस लाभ को प्राप्त करने का एक यही उपाय है, यही साधन है। मन्त्र में कहा कि जो ज्ञान है, जो भौतिक साधन है इनकी पहले भी आवश्यकता रही है, वर्तमान में भी इनकी आवश्यकता है, भविष्य में भी इन दोनों की आवश्यकता होगी। इस दृष्टि से वह अग्नि **ईड्य** है, **पूर्वेभिः ऋषिभिः** जो पहले भी उपासनीय रहा है और आज भी जो लोग हैं उनके द्वारा वह उपासनीय है और भविष्य में भी वह उपासनीय रहेगा। यह तात्विक बात, यह दार्शनिक बात इस मन्त्र के इस अंश से परिलक्षित हो रही है। नहीं तो यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि पहले का और आज का जो सम्बन्ध जोड़ने की बात है यह इसलिए कहनी पड़ी कि यह निरन्तरता की बात है,सदा की बात है।

आगे चर्चा करते हुए उसी बात को कह रहे हैं, कहते हैं कि उससे क्या होगा? **स देवाँ एह वक्षति।** वह जो अग्नि है **देवाँ वक्षति, प्रापयति, प्राप्स्यति।** उसके अन्दर एक विशेषता है, उसके अन्दर एक दिव्यता है। **मतलब अग्नि की एक विशेषता है कि वह दिव्य है।** आप अग्नि को प्राप्त करते हैं तो आपके अन्दर दिव्यता की प्राप्ति होती है। **देवाँ** दिव्य गुणों को **आ वक्षति**, यहाँ तक लाता है अर्थात् जो चीज हमसे दूर है, अप्राप्त है, उस वस्तु को हम तक प्राप्त कराता है। इसलिए वह स्तुत्य है, वह सदा ही वन्द्य है, अभिलषणीय है, प्राप्तव्य है। **स देवाँ एह वक्षति 'स'** जो कह रहा है वह अग्नि के लिए कह रहा है। वह जो अग्नि है, जब हम उसे प्राप्त कर लेंगे तो वह जो दिव्यता है, आत्मा के अन्दर या वस्तु के अन्दर, शरीर के अन्दर वह हमें प्राप्त हो सकती है, यह अनायास होती है। इसलिये वह प्राप्त करानेवाला है। अग्नि, हमें अपने को दिव्य बनाने के लिये जरूरी है। हम उसे उपासना के रूप में, अग्नि को ईश्वर के रूप में अपने अन्दर पाते हैं तभी मनुष्य अपने अन्दर दिव्यता को देखता है, दिव्य गुणों को प्राप्त करता है और जब हम उसको ऊर्जा के रूप में देखते हैं, तो उस ऊर्जा की प्राप्ति से, दिव्य गुणों की प्राप्ति से हमारे पास भी दिव्य गुणों का होना सम्भव है। यह मन्त्र का विशेष अभिप्राय है।

दिवंगत देवपुरुष स्वामी धर्मानन्द सरस्वती गुरुकुल आबूपर्वत (राज.) व महाशय श्रीपाल आर्य वेदप्रचारक बड़ौत (उ.प्र.) को विनम्र काव्य श्रद्धाञ्जलि।

पं. नन्दलाल 'निर्भय'

निराकार, सर्वज्ञ अरु सर्वव्यापक करतार।
रचनाकर, पालन करे, करता वह संहार।।
करता वह संहार, निराला वह कारीगर।
देवों का वह देव, समझ लो सब नारी-नर।।
माता-पिता, गुरु, भ्रात, सखा वह सच्चा नामी।
न्यायकारी है श्रेष्ठ प्रभु है जग का स्वामी।।१।।

फल देता प्रभु जीव को, कर्मों के अनुसार।
परोपकारी है बड़ा, करता जग-उद्धार।।
करता जग-उद्धार, निराली उसकी माया।
गए संत सब हार, पार उसका ना पाया।।
जो जन जपते उसे, पाप से बच जाते हैं।
जीवन होता सफल, मोक्ष पद को पाते हैं।।२।।

स्वामी धर्मानन्द जी, महाशय जी श्रीपाल।
मानवता के पुंज थे, भारत माँ के लाल।।
करते थे शुभ कर्म, सुजन थे दोनों लायक।
रात-दिवस वे काम, भलाई के करते थे।
सहकर भारी कष्ट, पराया दुःख हरते थे।।३।।

दोनों सज्जन छोड़कर, चले गए संसार।
काल बड़ा बलवान है, सब जाते हैं हार।।
सब जाते हैं हार, प्रभु की अद्भुत माया।
सबको देता मिटा, नहीं कोई बच पाया।।
बड़े-बड़े विद्वान्, काल ने ग्रास बनाए।
राजा रंक फकीर, काल ने सभी मिटाए।।४।।

भला इसी में है सुनो! करो ईश-गुणगान।
दयासिन्धु परमात्मा, कर देगा कल्याण।।
कर देगा कल्याण, बनो त्यागी तपधारी।
स्वामी धर्मानन्द सन्त से परोपकारी।।
श्रीपाल से बनो, वेद-प्रचारक नामी।
'नन्दलाल' कल्याण करेगा, जग का स्वामी।।५।।

कुछ तड़प-कुछ झड़प

प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

एक करणीय कार्य की शुभ सूचना- कभी भाजपा के नेता, एक बड़े वकील श्री राम जेठमलानी ने श्री रामचन्द्र जी पर सीता माता के साथ अन्याय करने का दोष लगाया तो भाजपा के कई शीर्षस्थ नेताओं यथा श्री अडवानी जी, उमा भारती जी, अयोध्या के एक पूर्व भाजपा सांसद ने श्री राम जेठमलानी की हाँ में हाँ मिला दी। तब देश भर के सब सन्तों महन्तों ने चुप्पी साध ली। उस समय श्री डॉ. धर्मवीर जी ने वाल्मीकि रामायण के प्रमाण देकर राम जेठमलानी के कथन का जोरदार प्रतिवाद किया। सब रामभक्त उस उत्तर को सुनकर-पढ़कर झूम उठे।

मेरे जैसे आर्यसमाजियों ने तो धर्मवीर जी पर इस विषय की १५०-२०० पृष्ठों की एक पुस्तक लिखने का दबाव बनाया ही जयपुर के महात्मा धर्मेन्द्र जी आचार्य ने भी ऐसी ही इच्छा प्रकट की। आपका धर्मवीर जी से बहुत स्नेह रहा। आपने मुझे भी कई बार कहा कि आप धर्मवीर जी से यह कार्य आरम्भ करवा दो। धर्मवीर जी नये-नये कार्यों में उलझ गये। अपना चिन्तन, अपनी खोज लेखबद्ध करके न गये। इससे समाज की बहुत हानि हुई। इन दिनों संघ परिवार के लोगों ने यहाँ-वहाँ जय श्रीराम गुञ्जाने का अभियान छेड़ा तो फिर राम और रामायण पर कई प्रश्न उठाये गये।

हिन्दुओं के लिये प्रामाणिक क्या है? हनुमान चालीसा, रामचरित मानस या वाल्मीकि रामायण? कोई हिन्दू पण्डित, कथावाचक इसका उत्तर नहीं देता। मैंने माननीय डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी का एक लेख पढ़कर उनसे प्रीतिपूर्वक यह विनय की कि आप श्रीराम और रामायण पर एक खोजपूर्ण, रोचक व प्रेरक उत्तम मौलिक पुस्तक लिख दें। यह पुस्तक आपकी शुद्ध मनुस्मृति की कोटि की होनी चाहिये। मुझे अभी-अभी यह शुभ सूचना मिली है कि माननीय डॉ. सुरेन्द्र जी ने रामायण पर करणीय कार्य के लिये लेखनी उठा ली है। रामायण में मिलावट और हटावट पर आपके गहन अध्ययन, चिन्तन का जाति को लाभ मिलेगा। आर्यसमाज की शान को चार चाँद लगेंगे। इस कार्य को पं. लेखराम, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय का ही कोई वंशज कर सकता है। डॉ. सुरेन्द्र इस कार्य के लिये अत्यन्त उपयुक्त विद्वान् हैं। मेरी विनती स्वीकार कर ली गई। यह मेरा प्रारब्ध माना जावेगा। इस पुस्तक के प्रसार के लिये सब कटिबद्ध हो जाओ।

आर्य जनता को हार्दिक बधाई स्वीकार हो- संघ परिवार ने प्रत्येक क्षेत्र में नई-नई संस्थायें बनाकर अपने विचारों संस्कारों को फैलाने की अच्छी नीति अपना रखी है। राष्ट्रीय इतिहास परिषद नाम की अपनी एक संस्था में संघ से बाहर के इतिहासज्ञों को जोड़कर वे उन्हें खींचने का और संघ के दृष्टिकोण की पुष्टि करवाने का लाभ लेने का यत्न करते हैं। गत दिनों ऐसे कुछ कार्यक्रमों में आर्य इतिहासज्ञ, लेखक व सुवक्ता श्री धर्मेन्द्र जी जिज्ञासु को एक विषय पर बोलने के लिये चन्द मिनट दिये। श्री धर्मेन्द्र जी ने मेरे ही किसी लेख व पुस्तक के प्रमाण देकर बोलना आरम्भ किया तो आपको आध घण्टा और बोलने को कहा गया। फिर और बोलने को कहा गया।

आपने प्रमाणों की झड़ी लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द ने सन् १८५७ की क्रान्ति को कभी भी गदर (mutiny) नहीं कहा। इसे विप्लव बलवा न कहकर प्रथम स्वाधीनता संग्राम बताया। उन्हीं से प्रेरणा पाकर वीर सावरकर जी ने Our First War of Independence ग्रन्थ रचा। सभा में धर्मेन्द्र जी ने ऐसी छाप छोड़ी कि श्री पं. रामचन्द्र जी देहलवी, पं. शान्तिप्रकाश और ठाकुर अमरसिंह के इतिहास को दोहराकर दिखा दिया। वीर रामप्रसाद बिस्मिल पर भी आपका एक ऐसा ही भाषण इतिहासप्रेमियों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सभाओं ने आर्यधर्म के प्रचार की धाक जमानी छोड़ दी। आर्यसमाज को मैं एक युवा आर्यरत्न की इस उपलब्धि पर बारम्बार बधाई देता हूँ। पं. लेखराम का मिशन ऐसे आर्यवीरों के पुरुषार्थ से फूलेगा-फलेगा। यह जानकारी पाकर मेरा हृदय पुकार उठा-

फूलता फलता रहे परिवार श्रद्धानन्द का

आर्यसमाज के आधुनिक इतिहास की अनूठी घटना- कहीं से एक स्वाध्यायशील उत्साही विद्वान् ने चलभाष पर मुझे यह सुझाव दिया कि जब आपको यह कार्य सौंपा गया है कि आर्यसमाज के इतिहास की कोई भी ऐतिहासिक घटना इतिहास लिखते समय अब छूटनी नहीं चाहिये। उस भाई ने विशेष अनुरोध करके आधुनिक काल के इतिहास की डॉ. धर्मवीर जी की एक अद्वितीय घटना देने का अनुरोध किया। उनकी सुझाई गई घटना मेरे अतिरिक्त कोई और न तो सुनाता है और न ही कभी लिखता है।

मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि ऐसी दूसरी कोई घटना आर्यसमाज के इतिहास में न सुनी गई है, न पढ़ने को मिली है। जब ऐसी दूसरी घटना कहीं घटी ही नहीं तो फिर कौन सुनावेगा? और कौन लिखेगा?

वह घटना इस प्रकार से है। सोनीपत के स्वाध्यायप्रेमी श्रीरामचन्द्र जी आर्य भारत सरकार की साहित्य अकादमी में गये। वहाँ आपने नई छपी पुस्तकों में पौराणिक आरती के रचयिता श्री पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी पर एक पीएच.डी. द्वारा लिखी एक नई पुस्तक विहंगम दृष्टि से देखी। लेखक ने बिना जाँच-पड़ताल के दुर्भावना से महर्षि दयानन्द की निन्दा में लिखी गई निराधार सामग्री परोस दी थी। रामचन्द्र जी ने श्रद्धाराम पर मेरे अनुसन्धान का सूक्ष्म अध्ययन कर रखा था।

आपने श्री डॉ. धर्मवीर जी को और मुझे यह सब जानकारी देते हुये अनुरोध किया कि परोपकारिणी सभा इस पुस्तक का अविलम्ब उत्तर मुझसे लिखवा कर छपवाए। धर्मवीर जी ने तत्काल मुझे उस पुस्तक का प्रतिवाद करने के लिये लेखनी उठाने की प्रेरणा दे दी।

मैंने उन्हें कहा, ''लेख तो मैं अभी परोपकारी में दे दूँगा। पुस्तक लिखने का अवसर दिल्ली की सभाओं, समाजों को दो। वे यदि आगे न आवें तो मैं लिख दूँगा।'' श्री धर्मवीर जी ने कहा, ''हमने ऋषिऋण चुकाने के लिये यह कार्य करना है। किसी अन्य के लिये नहीं। मैंने धर्मवीर जी का कहा शिरोधार्य करके पुस्तक का सप्रमाण उत्तर-प्रत्युत्तर लिखना आरम्भ कर दिया। साहित्य अकादमी की पुस्तक श्री रामचन्द्र जी ने झटपट मुझे पहुँचा दी। मैंने पुस्तक भी तैयार कर के दे दी और श्री मनीष गुलाटी [अमेरिकावालों] से प्रकाशन के लिये दान भी लाकर सभा को सौंप दिया।'' धर्मवीरजी के प्राक्कथन से पुस्तक देखते-देखते छपकर आ गई।

उस लेखक ने अपनी पुस्तक में लिखा था कि ऋषि सियालकोट गये तो पीछे-पीछे श्रद्धाराम पहुँच गया...मैंने लिखा, ''यह गप्प है ऋषि ने सियालकोट ज़िला की भूमि पर पैर ही नहीं धरा।'' मैंने श्रद्धाराम लिखित ऋषि के नाम उसके एक पत्र का चित्र छपवा दिया। वह तो ऋषि-भक्ति की मस्ती में ऋषि-दर्शन के लिये तड़पता-तरसता था। ऐसी पर्याप्त नई सामग्री उसमें दी गई। प्रश्न यह है कि यह पुस्तक आर्यसमाज के इतिहास में अद्वितीय घटना कैसे मान ली जावे?

मेरा विनम्रतापूर्वक उत्तर है कि गत ७५ वर्ष के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण कोई लाकर दिखा दो कि आर्यसमाज पर वार होते ही, पुस्तक की स्याही सूखने से पहले उसका उत्तर किसी सभा-संस्था ने छपवाया हो। रामचन्द्र जी ने, धर्मवीर जी ने और दानदाता ने जिस फुर्ती से, श्रद्धा-भक्ति से इस कार्य को सिरे चढ़ाया उसका धर्मवीर जी को विशेष श्रेय प्राप्त है। सभायें और लेखक अब उत्तर-प्रत्युत्तर देने से कतराते-घबराते हैं। इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

विचित्र इतिहास जिसे उजागर किया जावेगा- आचार्य उदयवीर जी ने अपने जीवन की अन्तिम वेला में एक प्रकाण्ड, युवा विद्वान् के संन्यास लेने की घटना का उल्लेख करते हुये उसे पंजाबी युवक लिखा। श्री आचार्य जी उस संन्यासी के निकटतम और प्रियतम विद्वानों में से एक थे। वह संन्यासी आर्यसमाज के निर्माताओं में से एक थे। उनका नाम नामी था स्वामी वेदानन्द। आपने अपने, कुल और जन्मस्थान की कभी चर्चा ही न होने दी। आपके निधन के पश्चात् उनकी एक लघु पुस्तक से पता चला कि वह तो उज्जैन में जन्मे थे। उज्जैन के आर्यों में मेरा लेख पढ़कर श्री स्वामी जी विषयक इस जानकारी को पाकर हलचल सी मच गई।

आचार्य उदयवीर जी का सान्ताक्रुज़ में सम्मान था। मुझे भी विशेष निमन्त्रण मिला। सम्मान से कोई दो-तीन

दिन पूर्व वहाँ पहुँचकर कैप्टन देवरत्न जी के निवास पर मुम्बई के कुछ आर्यजन मुझसे यह सुनकर दंग रह गये कि हमारे इस मूर्धन्य विद्वान् का जन्म राजपूत कुल में हुआ है।

अगले दिन मैं जब कैप्टन जी से मिला तो आपने पूज्य मीमांसक जी का पत्र दिखाकर कहा कि आपके कथन की पुष्टि मीमांसक जी के इस पत्र से होती है कि पीढ़ियों से विद्याप्रेमी ब्राह्मण कुल में जन्मे ऐसे विद्वान् की विद्वत्ता पर आश्चर्य नहीं होता, परन्तु राजपूत कुल में जन्म लेकर देश के (काशी के) विद्वान् आचार्य उदयवीर को दर्शन, वेद शास्त्र का शीर्षस्थ पण्डित मानते हैं।

जिस देश में बड़े-बड़े नेता, अधिकारी अपने नाम से नहीं जाति-पाँति से यथा गुप्ता जी, नायर जी, हुड्डा जी, यादव जी, अरोड़ा जी के रूप में जाने जाते हैं। आर्यसमाज में ऐसे महापुरुषों की जाति-पाँति का उनके निकटस्थ विरले लोगों को भी पता न लगा।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के आरम्भिक काल के प्राय: रामाँ मण्डी निवासी सब शिष्यों को मैं निकट से जानता था। ऐसे आर्य पुरुषों में एक महाशय निहालचन्द जी थे। यह सन् १९७५ के आसपास की घटना होगी कि उनके धर्मभाव उनकी शूरता का मदनलालजी आर्य को एक प्रसंग सुनाते हुये मैंने कहा कि देखो स्वामी श्री स्वतन्त्रानन्द के पुण्य प्रताप से देश को जाट परिवारों से कैसे-कैसे रत्न मिले!

यह सुनकर मदनलाल जी ने कहा, महाशय जी जाट कुल में नहीं वैश्य कुल में जन्मे हैं। मुझे यह ज्ञान लगभग ३८ वर्ष पश्चात् हुआ। क्या यह आर्यसमाज की कोई छोटी उपलब्धि व घटना है?

कभी गंगोह एक बारात में आर्यलोग पं. लेखराम जी को लेकर गये। उस बारात में कई जाति बिरादरियों के बाराती थे। इस कारण से भी पौराणिकों ने प्रचण्ड बहिष्कार किया। प्रथम विश्वयुद्ध से कुछ पहले किशनसिंह नाम के रामाँमण्डी के एक आर्य युवक की बारात में बनिये, जाट, ब्राह्मण आदि कई बिरादरियों के युवक सम्मिलित हुए। भावुक युवक स्वामी जी को बारात के साथ ले जाने पर अड़ गये। उनको आशा थी कि स्वामी जी के दर्शन करके, उन्हें सुनकर वहाँ आर्यसमाज का गढ़ बन जावेगा।

सन् १९७७ में साबरमती आश्रम में गाँधी जी के पहले हरिजनभक्त प्रेमी का चित्र देखकर मेरे मन में स्वामी जी के दलित वर्ग में जन्मे शिष्य का पता लगाने की ललक जगी। मैंने वहाँ से लौटते हुए रामाँ जाकर महाशय निहालचन्द से ऐसे आर्यभक्त का नाम आदि पूछा तो झट से आपने कहा, ''जिस आर्यवीर किशनसिंह की बारात में पूज्य स्वामी जी को ले जाने की रोचक व जोशीली घटना आपने स्वामी जी के जीवन-चरित्र में दी है वह आर्यवीर किशनसिंह दलित वर्ग में ही जन्मा, हमारा दृढ़ धर्मबन्धु था।''

गाँधीयुग से लगभग दस वर्ष पहले की यह घटना है। उस युग में काशी, मथुरा, जगन्नाथ, हरिद्वार, पुरी, सोमनाथ, कन्याकुमारी की किसी भी हिन्दू की बारात में दलित, वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय विविध कुलों के बरातियों की एक भी घटना की सप्रमाण जानकारी कोई इतिहास के पृष्ठों से लाकर तो दिखा दे। हमारे लोग समाज-सुधार पर तो लिखते चले जा रहे हैं, परन्तु ऐसे अनूठे प्रसंग, ऐसी घटनायें जिन्होंने इतिहास को नई दिशा दी, वे इतिहास में स्थान प्राप्त न कर सकीं।

आर्यसमाज के बहुत से लेखक इतिहास विषयक लेखों को लिखते हुए इतिहास की ऊहा से कतई काम नहीं लेते। लोहारू के हत्याकाण्ड पर बोलते-लिखते हुए यह क्यों नहीं लिखा जाता कि सन्ध्या करते समय आर्यों पर दानव दल टूट पड़ा? जब स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी पर कुल्हाड़ा चलाया गया तो वह भी सबके साथ सन्ध्या के मन्त्रों का पाठ कर रहे थे।

ऊपर जाति-पाँति की बात चल रही थी। मैं कई ऐसे परिवारों को जानता हूँ जो दो-तीन पीढ़ियों से स्वयं को कागजों में आर्य ही लिखते-लिखवाते हैं, परन्तु जाति-बन्धन तोड़कर बेटी-बेटों का विवाह करने से सदा डरते हैं। इतिहास में इस दुर्बलता पर भी कुछ लिखना चाहिये।

आर्यसमाज की विलक्षणतायें मुखरित होंगी- मुझे बार-बार यह कहा जा रहा है कि जो अति महत्त्वपूर्ण घटनायें इतिहास में छूट गईं उन सबको इतिहास में अवश्य जोड़ें। आर्यसमाज की एक-एक विलक्षणता जो अब तक

लुकी-छिपी रही वे सब देने का मेरा प्रयास होगा। बडों की असावधानी से, चूक से, इतिहास को मोड़ देनेवाली जो घटनायें रह गईं, वे सप्रमाण दी जावेंगी। यथा लाला लाजपतराय जी की कोटि के इतिहासकार ने महर्षि के बलिदान पर डी.ए.वी. के प्रथम जन्मोत्सव पर भारत की पहली ऐतिहासिक सभा में जिस महिला को देश ने पहली बार भाषण देने का सम्मान दिया वह थी पूजनीया माता भगवती। लाला जी उस इतिहास में माई जी का नाम भूल गये। मैंने यह नाम दे दिया है।

ऋषि पर प्रतिबन्ध- देश के इतिहास में जिस महापुरुष के भाषण पर गोराशाही ने प्रतिबन्ध लगाया। वह महर्षि दयानन्द थे। यह घटना दिसम्बर १८७९ में काशी में घटी। २७ दिसम्बर १८७९ के स्टार समाचार में यह छपा मिलता है कि काशी के कलेक्टर महोदय ने स्वयं इंस्पेक्टर महोदय द्वारा ऋषि जी को व्याख्यान उपदेश देने की अनुमति दे दी।

एक संस्था द्वारा यह अभियान छेड़ा गया कि देश-विदेश में जनजागरण व नारी सम्मान के आन्दोलन की अग्रणी **माता हरदेवी आर्यसमाजी नहीं कुछ और ही थी।** मैंने वह कुचाल विफल कर दी। अब उस देवी की आत्मकथा का सचित्र प्रमाण देकर बताया जा रहा है कि वह देवी आर्यसमाज के निर्माताओं में बहुत उच्च स्थान रखती थी। उसकी आर्यसमाज के कई कीर्तिमान मुखरित किये जावेंगे।

ऋषि मिशन की ये तीन-तीन पीढ़ियाँ- एक दिन कुछ चिन्तन-मनन करते हुये ईश्वरीय प्रेरणा से मुझे यह सूझा कि आर्यसमाज के सबसे पुराने प्रकाशन संस्थान विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द की तीनों पीढ़ियों को ऋषि मिशन की सेवा में अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी। यह जानकारी पाकर कई एक ने ऐसे-ऐसे और तथ्यों को प्रकाश में लाने की प्रबल प्रेरणायें दीं। मैं इतिहास की ऐसी सामग्री का कुछ नमूना संक्षेप से देने लगा हूँ।

दीनानगर पंजाब के ऋषि के काल के लाला कश्मीरामल, उनके पुत्र लाला देवदत्त और तीसरी पीढ़ी में लाला जयचन्द्र जी ओहरी को अग्नि परीक्षा देने का सौभाग्य प्राप्त रहा।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के पश्चात् पं. इन्द्र जी को, स्वामी जी की एक नातिन को तथा नाती सत्यकाम आदि को अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने का गौरव प्राप्त रहा।

पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय,उनके भाई सत्यव्रत, माता कलादेवी के भाई डॉ. विभु (उपाध्याय जी के शिष्य) और स्वामी सत्यप्रकाश जी को यही गौरव प्राप्त रहा।

श्री भारतेन्द्रनाथ जी, उनके क्रान्तिकारी पिता पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल माता विद्यावती 'शारदा', श्रीमती राकेश रानी (चालीस से ऊपर अभियोगों का कीर्तिमान) तथा आगे श्रीमती ज्योत्स्ना और डॉ. धर्मवीर जी को वाब्ले द्वारा चलाये गये अभियोग में अग्नि-परीक्षा देने का लम्बा अवसर मिला। ये सब उत्तीर्ण हुये।

पाठक ऐसी तीन-तीन पीढ़ियों का और सप्रमाण पता दे सकें तो यह उनकी कृपा होगी।

विद्या के कोष की रक्षा व वृद्धि राजा व प्रजा करें

वे ही धन्यवादार्ह और कृत-कृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सास, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें। यही कोष अक्षय है, इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाये, इस कोष की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है। (सत्यार्थ प्रकाश सम्मुलास ३)

आनन्द

जिस परमात्मा का यह 'ओ३म्' नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ ये हमारे शरीर, मन और आत्मा का विविध दु:ख जोकि अपने [से] दूसरे से होता है, नष्ट हो जावे और हम लोग प्राप्ति से एक-दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि से सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रखें।

संस्कार विधि

क्या वेदों में वानप्रस्थ संन्यास आश्रमों का विधान नहीं है?

पण्डित धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड

वेदों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मनु महाराज ने मनुस्मृति अ.१२ में कहा है कि-

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।। ९७।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूप चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था, तीनों लोक, चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास), भूत-भविष्य-वर्तमान विषयक उत्तम ज्ञान सब वेद से प्रसिद्ध होता है। कुल्लूक भट्ट ने **चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्** की व्याख्या में ठीक ही लिखा है कि **एवं ब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलत्वाद् वेदादेव प्रसिद्ध्यन्ति।** इस प्रकार मनु महाराज के इस स्पष्ट लेख के होते हुए भी कई विद्वानों का यह विचार है कि वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विधान नहीं पाया जाता। भारतीय संस्कृति विषयक कुछ ग्रन्थों में भी यह विचार प्रकट किया गया है। और तो और वेदों के धुरन्धर विद्वान्, वेदों के प्रकाशन और उनकी शिक्षाओं के प्रसंग में अपने लगभग सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करनेवाले वेदमूर्ति मान्य श्री पं. दामोदर सातवलेकर जी ने 'वेंकटेश्वर समाचार' के आषाढ़ बदी १० संवत् २०१८ (७ जुलाई १९६१) के अङ्क में **बौद्धधर्म के प्रसार से ही भारत ७०० वर्ष तक गुलाम रहा** इस शीर्षक के लेख में लिखा है कि ''वास्तव में वैदिक धर्म में संन्यासाश्रम का विधान ही नहीं है। यह संन्यास की पद्धति बुद्ध के बाद वैदिकधर्म में घुसी है।''

हमारी सम्मति में यह विचार सर्वथा अयथार्थ है। वेदों के **चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत** (ऋ. ७/७/१) इत्यादि मन्त्रों में यह बताया गया है कि (यत्) जब मनुष्य (ऋतैः) यज्ञ, सत्य तथा वेद-ज्ञान द्वारा (अवर्धत) वृद्धि को प्राप्त होता है तो (चत्वारि) चारों (भुवनानि) आश्रमों को (निर्णिजे) पवित्र कर देता है और (अन्या चारूणि चक्रे) मानो साधारण रूप से अन्य किन्तु वस्तुतः बहुत सुन्दर बना देता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य सत्य, वेदज्ञान तथा यज्ञ भावना द्वारा आश्रमों को साधारण रूप से भिन्न और अत्युत्तम बना देते हैं। जिससे लोग उनकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं और उनके महत्त्व को समझने लगते हैं। **भुवनानि** का प्रयोग यहाँ **श्रेष्ठा भवन्ति जना एभिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार कि जिनके द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ बनते हैं, आश्रमों के अर्थ में ही प्रतीत होता है। तैत्तिरीय ३/३/७/५ में कहा है **यज्ञो वै भुवनम्** इसके अनुसार 'भुवन' शब्द का प्रयोग यज्ञ के अर्थ में भी होता है। वैदिकधर्म के अनुसार ४ वर्ण और आश्रम भी यज्ञ माने जाते हैं। यह वेदों का स्वाध्याय करनेवाले विद्वान् भलीभाँति जानते हैं। महर्षि दयानन्द जी ने **यज्ञ** शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रमादि के लिये माना है। उदाहरणार्थ यजु. ८/२२ में यज्ञ का अर्थ उन्होंने **संपूजनीयः प्रजारक्षणनिमित्तो विद्याप्रचारार्थो गृहाश्रमः** ऐसा किया है। ऋ. १, १६४, ५० **यज्ञेन यज्ञमयजन्त** इस सुप्रसिद्ध मन्त्र के भाष्य में महर्षि ने **'यज्ञेन'** का अर्थ **ब्रह्मचर्याद्याचरणेन** अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के कर्त्तव्यों के आचरण से, ऐसा किया है। अन्य भी अनेक स्थानों पर उन्होंने ऐसा ही अर्थ किया है। अतः **चत्वारि भुवना** से चारों आश्रमों का ग्रहण मेरी कपोलकल्पना नहीं है।

वानप्रस्थाश्रम का स्पष्ट वर्णन अथर्व. ९/५/१ के निम्न मन्त्र में है-

आनयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम्।

इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द ने शब्दार्थ इस प्रकार किया है जो मननीय है-

हे गृहस्थ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर (आनय) अपने मन को गृहस्थाश्रम से इधर की ओर ला (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम् अपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) बहुत

प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दु:ख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तर के अर्थात् पृथक् होकर (अज:) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दु:खरहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) रीतिपूर्वक आरूढ़ हो।

यहाँ महर्षि दयानन्द जी की व्याख्यानुसार भी आश्रम के लिये **लोकम्** का प्रयोग हुआ है जो **भुवन** का ही पर्यायवाची है। अत: **तृतीयं नाकम्** से आश्रमों में तीसरे दु:खरहित अथवा मोक्ष के साधन वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण सर्वथा उचित ही है।

महर्षि दयानन्द जी ने निम्न मन्त्रों को भी वानप्रस्थाश्रम के वेदों में विधान को दिखाने के लिये उद्धृत किया है।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।।

अथर्व. १९/४१/१

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत् तपः।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः।।

अथर्व. १९/४०/३

इनका अर्थ महर्षि ने निम्न प्रकार किया है- हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे (स्वर्विद:) सुख को प्राप्त होनेवाले (ऋषय:) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तप:) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उपनिषेदु:) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्त:) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (तत:) तदनन्तर (ओज:) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्धि प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवा:) विद्वान् लोग नमन करते हैं (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आपको (उपसंनमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें।

इस मन्त्र में **'भद्रम्'** शब्द का प्रयोग है जो **भदि कल्याणे सुखे च** इस धातु से बनता है। अत: इसका अर्थ कल्याणकारक है। ऋषय:, तप:, दीक्षाम् इत्यादि के संसर्ग से यहाँ (भद्रम्) से कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण सर्वथा प्रकरणानुकूल है, क्योंकि वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों में भी तप, श्रद्धा, व्रत, दीक्षा आदि के साथ अरण्यवासी वानप्रस्थों का स्पष्ट वर्णन आया है।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।

मुण्डको. १/२/११।।

इसमें कहा गया है कि जो शान्त विद्वान् तप और श्रद्धा से युक्त होकर अरण्यों में निवास करते हैं वे श्रद्धा प्राणायामादि के अभ्यासपूर्वक ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। अत: **भद्रमिच्छन्त ऋषयः** इस मन्त्र में भद्र पद से कल्याण-वानप्रस्थ का ग्रहण उचित ही है। दो अन्य मन्त्र जिनकी महर्षि दयानन्द ने वानप्रस्थाश्रमस्थों की ओर से प्रार्थना के रूप में व्याख्या की है वे भी इस प्रकरण में उल्लेखनीय है।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्।।

यजु. २०/२४

इसका महर्षिकृत अर्थ निम्न है-

हे (व्रतपते अग्ने) व्रतपालक परमात्मन्! (दीक्षित:) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझमें स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूँ वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रचलित करता और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता हूँ और सदा (इन्धे) प्रकाशित करता हूँ।

यहाँ भी दीक्षित, व्रत, श्रद्धा आदि के सम्पर्क से यह स्पष्ट है कि यह प्रार्थना मुख्य रूप से वानप्रस्थाश्रमी की ओर से है जो अपने आत्मा को भगवान् के प्रति समर्पित करता और उसे अपने हृदय में प्रकाशित करता है। दूसरी प्रार्थना निम्नलिखित है-

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः।
शिवा नः शंसन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः।।

अथर्व. १९/४०/३।।

इसका महर्षि दयानन्दकृत अर्थ निम्न प्रकार है–

हे सम्बन्धी लोगो! (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेघाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्टं) मत नष्ट करो (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा) मत और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको तुम लोग (मा हिंसिष्टं) मत नष्ट करो। (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिये सब पूजा (शिवाः) कल्याण करनेवाली (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता, पितामही, प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझको वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे से (भवन्तु) होवो।

दीक्षा, तप, मेधा आदि के योग से यह प्रार्थना स्पष्टतया वानप्रस्थाश्रमियों अथवा वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश के अभिलाषी व्यक्तियों की ओर से है, यह मन्त्रगत शब्दों से स्पष्ट है।

इनके अतिरिक्त मेरा विचार है कि वेदों के अङ्गिरसः, भृगवः, पितरः आदि शब्दों से प्रायः अङ्गारों के समान तेजस्वी अथवा **प्राणो वै अङ्गिराः** (शत. ६/१/२/२८) इत्यादि प्रमाणानुसार प्राणविद्या के तत्त्ववेत्ता और प्राणायामाभ्यासी, (भृगवः) **परिपक्व विज्ञानाः**– परिपक्व विज्ञानवाले, (पितरः) ज्ञानादि देकर रक्षा करनेवाले **विद्यावयो वृद्धाः** पितर इव प्रजानामुपरि कृपालवः (ऋ. ६/७५/१०), पापापत्कालनिवारकाः, धर्मजीविकाज्ञापकाः, सेवितुं योग्याः श्रेष्ठानां पालका दुष्टेषु क्रोधकारिणः (यजु. २/३२) इत्यादि गुणसम्पन्न वानप्रस्थों का ग्रहण है।

यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे।

ऋ. ४/७/१

गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्।।

ऋ. १०/४६/२।।

निरुक्त २/२ के अनुसार अप्न इति अपत्यनाम है। अतः मन्त्र में जो कहा है कि (अप्नवानः) उत्तम सन्तानवाले (भगवः) परिपक्व विज्ञानवाले अनुभवी ज्ञानी (वनेषु) वनों में निवास करते हुए (चित्रम्) अद्भुत (विभ्वम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (विशे विशे) प्रत्येक प्रजाजन के लिये (विरुरुचुः) विशेषरूप से प्रकाशित करते हैं– उसका ज्ञान देते हैं, वह वानप्रस्थ विषयक है यह 'अप्नवानः' 'भृगवः' और 'वनेषु' इन शब्दों से स्पष्ट है।

इसी प्रकार ऋ. १०/४६/२ में भृगुओं के विषय में यह जो कहा गया है कि वे (उशिजः) भगवान् की प्राप्ति की कामना करनेवाले (धीराः) ध्यानी और धैर्यसम्पन्न (भगवः) परिपक्व ज्ञानयुक्त ज्ञानी (नमोभिः इच्छन्तः) नम्रता के साथ उसकी इच्छा करते हुए (गुहा चतन्तम्) हृदयरूप गुहा में विद्यमान ज्ञानदाता (चततिर्गतिकर्मा निघ. २/१४) परमेश्वर को (अविन्दन्) प्राप्त कर लेते हैं, वह स्पष्टतया वानप्रस्थ विषयक है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

पितरः देवतावाले जो सूक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में आते हैं, उनमें भी अधिकतर पितरों से ज्ञानवयोवृद्ध वानप्रस्थाश्रमियों का ग्रहण करने से मन्त्रों की संगति बड़ी उत्तमता से लग जाती है। उदाहरणार्थ–

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आगमन्तु तऽइह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।।

यजु. १९/५७।।

आ यन्तु नः पितरः सोम्या सोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।।

यजु. १९/५८।।

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तऽइहोर्जं दधात।।

यजु. १९/६३

इत्यादि मन्त्रों में पितरों को हमने निमन्त्रित किया है। वे उत्तम आसनों पर विराजमान होकर हमारी प्रार्थना को सुनें, हमें उत्तम उपदेश दें और इस प्रकार हमारी रक्षा करें तथा हमें उन्नत करें।

अग्नि विद्या को जाननेवाले सौम्य स्वभाव के हमारे पितर देवों के योग्य उत्तम मार्गों से हमारे पास आएँ। यज्ञ में हमारे अन्न द्वारा तृप्त होकर हमें उत्तम उपदेश देकर वे हमें तृप्त और उन्नत करें।

लाल रंग वाली तेजस्विनी पत्नियों के समीप बैठे है पितरो! आप अपने शरणागत पुत्रों को ज्ञानादि उत्तम ऐश्वर्य पराक्रम प्रदान करें, इत्यादि में पितरों से ज्ञानवयोवृद्ध अनुभवी ज्ञानी वानप्रस्थाश्रमियों का ग्रहण कितना संगत

प्रतीत होता है।

इस पर भी यदि अधिक स्पष्ट मन्त्र की अपेक्षा समझी जाए तो सामवेद मन्त्र ६२३ को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें वानप्रस्थ के पर्यायवाची **वनर्गु** शब्द का प्रयोग पाया जाता है। उस मन्त्र में कहा है-

तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः।

सामवेदभाष्यकार महाविद्वान् पण्डितराज स्वा. भगवदाचार्य जी ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है-

(कवयः) क्रान्तदर्शिनः (वनगर्वः) अरण्यवासिनो विरक्ताश्च (पुरुषासः) पुरुषाः (तम्) तथाविधमनोहरजगदुत्पादकं (त्वा) त्वाम् (स्तुवन्ति)। वनं गच्छन्तीति वनर्गवः। वनशब्दोपपदाद् गमेर्मृगग्व्यादयश्चेत्यौणादिको डु प्रत्ययो रुडागमश्च निपात्यते। अर्थात् क्रान्तदर्शी विद्वान् और अरण्यवासी ऋषि अथवा विरक्त, हे परमेश्वर! आपकी ही स्तुति करते हैं। इससे बढ़कर स्पष्ट प्रमाण वेदों में वानप्रस्थाश्रम के विधान का द्योतक और क्या हो सकता है?

ऋग्वेद १०/१४६/५ का अरण्यानी सूक्त जिसका ऋषि 'देवमुनिः' है (जिससे इस लेख के लेखक को वानप्रस्थाश्रम दीक्षा के समय 'देवमुनि' इस उपनाम को ग्रहण करने की प्रेरणा मिली) स्पष्टतया वानप्रस्थाश्रम निवासिनी देवी का वर्णन करता है। विस्तारमय से उसके निम्नलिखित मन्त्र का उल्लेख ही यहाँ पर्याप्त है-

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते।।

अर्थात् घने जंगल में वानप्रस्थाश्रमवासिनी देवी किसी की हिंसा नहीं करती और स्वादु फलों का सेवन करके तपस्या, आराधना, स्वाध्यायादि द्वारा अपनी शुभकामना की पूर्ति करती है।

वेद के इन स्पष्ट आदेशों को ही ध्यान में रखते हुए महर्षि दयानन्द जी ने **संस्कारविधि** के 'वानप्रस्थप्रकरण' में लिखा था कि ''इसलिये श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये'' तथा ''इसलिये वानप्रस्थ करना अति उत्तम है।''

खेद की बात यह है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था को वैदिक धर्म आर्यसंस्कृति का एक अत्यावश्यक अङ्ग माननेवाले और लेखों और भाषणों द्वारा उसके महत्त्व का ढिंढोरा सारे संसार में पीटनेवाले आर्य विद्वानों में से ही बहुत कम ने वेद की आज्ञा और महर्षि दयानन्द के ''वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये'' इन शब्दों द्वारा सूचित आदेश की ओर ध्यान दिया है। इस प्रकार की वाक्शूरता देखकर ही लोगों को आर्यसमाज पर आक्षेप करने का अधिक अवसर मिलता है।

अब मैं वेदों में संन्यासाश्रम का विधान है या नहीं इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ। मान्य पं. श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर जैसे विद्वानों का पूर्वपक्ष ऊपर दिखाया जा चुका है। अतः उसका पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि **संन्यासी** इस शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं पाया जाता तथापि यतिः वैश्वानरः अग्निः ब्राह्मणस्य विजानतः (यजु. ४०/७) इत्यादि शब्दों द्वारा संन्यासियों के कर्त्तव्यों का वेदों में स्पष्ट प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ निम्न वेदमन्त्रों को देखिये-

प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम्।।

ऋ. ७/१३/१।।

इस पर महर्षि दयानन्द का भाष्य निम्न है-

(अग्नये) अग्निरिव विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाय (विश्वशुचे) यो विश्वं सर्वं जगत् शोधयति (धियन्धे) यो धियं दधाति तस्मै (असुरघ्ने) योऽसुरान् दुष्टकर्मकारिणो हन्ति तिरस्करोति तस्मै (मन्म) विज्ञानम् (धीतिम्) (धर्मस्य धारणाम् (हविः) दातव्यम् अत्तव्यम् अन्नादिकम् (बर्हिषि) सभायाम् (प्रीणानः) प्रसन्नः (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणां नायकाय (यतये) यतमानाय संन्यासिने (मतीनाम्) मनुष्याणां मध्ये।

भावार्थ- हे गृहस्थ! येऽग्निवद् विद्यासत्यधर्मप्रकाशकाः अधर्मखण्डनेन सत्यमण्डनेन सर्वेषां शुद्धिकराः, प्राज्ञाः, प्रमाप्रदाः, अविद्वत्ताविनाशकाः, मनुष्याणां विज्ञानं धर्मधारणं च कारयन्तो यतयः संन्यासिनो भवेयुः, तत्सङ्गेन सर्वे यूयं प्रज्ञां धृत्वा निस्संशया भवत। यथा राजा युद्धस्य सामग्रीमलङ्करोति तथैव यतिवराः सुखस्य सामग्रीमलङ्कुर्वन्ति।।

अर्थात् हे गृहस्थो! जो अग्नि की तरह विद्या और सत्यधर्म के प्रकाशक, अधर्म के खण्डन और सत्य के मण्डन से सबको शुद्ध पवित्र करनेवाले, बुद्धिमान्, ज्ञानप्रदाता, अविद्या के विनाशक और मनुष्यों को विज्ञान और और धर्म को धारण करानेवाले संन्यासी हों, उनके सङ्ग में तुम शुद्ध बुद्धि को धारण करके संशयरहित हो जाओ।

इस मन्त्र में संन्यासियों के कर्त्तव्यों का कितनी उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है। उनके लिये **विश्वशुचे, धियन्धे, यतये** का प्रयोग है जिनमें से **यति** शब्द तो लौकिक साहित्य में भी संन्यासी के लिये प्रसिद्ध ही है। वे सबको पवित्र करनेवाले और उत्तम बुद्धि को धारण करनेवाले और वैश्वानर अग्नि के समान होने चाहियें, यह मन्त्रों में कहा गया है। महर्षि दयानन्द ने वैश्वानर अग्नि से जो संन्यासी का ग्रहण किया है यह उनकी अपनी कल्पना नहीं है। तैत्तिरीय २/१/४/५ में स्पष्ट लिखा है कि **एष वा अग्निर्वैश्वानरः यद् ब्राह्मणः।** यहाँ सच्चे ब्राह्मण को वैश्वानर-विश्व नरहितकारी अग्नि-अग्रणी के नाम से पुकारा गया है। ब्राह्मण गुण-कर्म-स्वभाववाला व्यक्ति ही संन्यासी बन सकता है। अतः संन्यासी को वैश्वानर अग्नि कहना सर्वथा उचित ही है।

इसी सूक्त का दूसरा और तीसरा मन्त्र भी विशेष द्रष्टव्य है जिसमें संन्यासी को वैश्वानर जातवेदा अग्नि के नाम से सम्बोधन किया गया है।

त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान
आ रोदसी अपृणा जायमानः।
त्वं देवा अभिशस्तेरमुञ्चो
वैश्वानर जातवेदो महित्वा।।

ऋ. ७/१३/२

इसके मुख्य २ शब्दों के अर्थ निम्न हैं- (अग्ने) अग्निरिव वर्तमान संन्यासिन्! (शोशुचानः) शोचयन् (अभिशस्तेः) आभिमुख्येन स्वप्रशंसां कुर्वतो दम्भिनः (वैश्वानर) विश्वेषु नरेषु राजमान।

महर्षिकृत भावार्थ- हे मनुष्याः! यथाग्निः स्वयं शुद्धः सन् सर्वान् शोधयति तथैव संन्यासिनः स्वयं पवित्राचरणाः सन्तः सर्वान् पवित्रयन्ति।।

अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे अग्नि स्वयं पवित्र होकर और पदार्थों को पवित्र करती है वैसे ही संन्यासी स्वयं पवित्र आचरणोंवाले होकर सबको पवित्र करते हैं।

इसी सूक्त का तृतीय मन्त्र निम्न है जिसका शीर्षक महर्षि दयानन्द जी ने **पुनस्ते यतयः कीदृशा भवेयुरित्याह** अर्थात् संन्यासी कैसे हों इस विषय का मन्त्र में प्रतिपादन है।

जातो यदग्ने भुवनं व्यख्यः
पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।

ऋ. ७/१३/३।।

इसके मुख्य-मुख्य शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं- (अग्ने) अग्निरिव विद्वन्! (अख्यः) प्रकाशयति (इर्यः) सत्यमार्गे प्रेरकः (परिज्मा) परितः सर्वतोऽजति गच्छति (वैश्वानर) विश्वेषु नरेषु प्रकाशक।

महर्षि दयानन्दकृत भावार्थ- ये सूर्यवत् प्रख्यातपरोपकारविद्योपदेशा वत्सान् गाव इव विद्यादानेन सर्वेषां रक्षकाः सर्वदा भ्रमन्तो वेदेश्वरविज्ञानाय राज्यरक्षणाय नृप इव न्यायशीला भूत्वा सर्वानज्ञान् बोधयन्ति ते सदैव सर्वैः सत्कर्तव्या भवन्ति। अत्राग्निदृष्टान्तेन संन्यासिगुणवर्णनम्।

अर्थात् जो संन्यासी सूर्य की तरह परोपकार विद्या और उपदेश की तरह प्रख्यात हैं, जिस प्रकार गौवें बछड़ों को दूध पिलाती हैं ऐसे विद्यादान से जो सबकी रक्षा करते हैं, सब जगह भ्रमण करते हुए वेद और ईश्वर के विज्ञान के लिये न्यायशील होकर जो अज्ञानियों को बोध कराते हैं वे सबके लिये सत्कार करने योग्य होते हैं।

यहाँ संन्यासी के लिये **परिज्मा** शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सायणाचार्य ने **परितो गन्ता** और महर्षि दयानन्द ने भी **परितः सर्वतोऽजति गच्छति** इस प्रकार किया है। इसी वेद के **परिज्मा** के स्थान पर आगे जाकर **परिव्राजक** शब्द संन्यासी के लिये प्रसिद्ध हो गया। इसलिये संन्यासी शब्द न आने से वेदों में संन्यासाश्रम का विधान नहीं, यह मान लेना बड़ी भूल है। यतिः, परिज्मा, वैश्वानरोऽग्निः आदि शब्द उसी के वाचक हैं। यह आश्चर्य

तथा दु:ख की बात है कि श्री सायणाचार्य ने संन्यासी कर्तव्यबोधक इतने स्पष्ट मन्त्रों के होने पर भी आर्षदृष्टि न होने अथवा पौराणिक संस्कारवश अग्नि से भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और 'यतये' जैसे सुप्रसिद्ध शब्द का जिसके संन्यासिपरक होने में किसी को अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता 'दात्रे', अर्थात् दानशील, यह विचित्र धात्वर्थेविरुद्ध अर्थ कर दिया है। 'जातवेद:' का अर्थ जातप्रज्ञ करते हुए भी उसे भौतिक अग्निपरक माना है। इसी प्रकार ऋ. ७/१४/१-३ तथा ऋ. ७/१५/१,२ इत्यादि मन्त्रों में संन्यासिधर्म का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन है।

महर्षि दयानन्द ने इन सब मन्त्रों की संन्यासिपरक ही व्याख्या की है जो प्रकरणसंगत तथा शिक्षाप्रद है। ऋ. ७/ १५/२ के भावार्थ में महर्षि ने लिखा है-

य:पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे।
कविर्गृहपतिर्युवा।।

यति: सदा सर्वत्र भ्रमणं कुर्याद् गृहस्थश्चैतं सदैव सत्कुर्यादित उपदेशं शृणुयात्। अर्थात् संन्यासी सदा भ्रमण करे और गृहस्थ इसका सत्कार करे और इससे उपदेश सुने।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञा:।
ते नो रासन्तामुरु गायमद्य यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:।।

ऋ. ७/३५/१५।।

इत्यादि मन्त्रों में भी पूज्य ज्ञानियों में अत्यन्त पूजनीय, वेद तथा सत्य के ज्ञाता जीवन्मुक्त ब्रह्मवेत्ता संन्यासियों का निर्देश करते हुए उनसे उत्तम उपदेश देकर रक्षा की प्रार्थना की गई है। या तो मान्य वेदमूर्ति श्री सातवलेकर जी और डॉ. मङ्गलदेव जी शास्त्री आदि विद्वानों को यह स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिये कि हम महर्षि दयानन्द जी कृत इन अर्थों को कपोलकल्पित और अप्रामाणिक मानते हैं अन्यथा उनके प्रमाण तथा प्रकरण अर्थों को ठीक मानकर यह स्वीकार करना चाहिये कि उनका यह कथन कि वेदों में संन्यास आश्रम का कहीं विधान नहीं और यह संन्यास की पद्धति बुद्ध के बाद वैदिक धर्म में घुसी है, यह ठीक न था। हाँ, यह कथन यथार्थ है कि वेदों में संन्यासियों के लिये भी कर्म संन्यास वा सर्व कर्म त्याग का विधान नहीं। उनके लिये जिन कर्त्तव्यों का प्रतिपादन सत्य के मण्डन, असत्य के खण्डन तथा सत्य धर्मोपदेश आदि के रूप में किया गया है उनका अनुष्ठान उन्हें अवश्य करना ही चाहिये, क्योंकि वेद इन तथा

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

यजु. ४०/२।।

इत्यादि मन्त्रों द्वारा कर्मयोग का ही प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद ९/७१/७ में **सहस्रणीतिर्यति:** इत्यादि शब्दों द्वारा यति वा संन्यासी के लिये हजारों का सदुपदेश द्वारा नेता वा मार्ग प्रदर्शक बनने का स्पष्ट निर्देश है। यह तभी हो सकता है जब संन्यासी सच्चे कर्म-योगी हों। भगवद्गीता में योगिराज श्रीकृष्ण का

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय:।।

गीता ६/१।।

यह कथन कि जो कर्मफल पर आश्रित न रहकर कर्त्तव्य-कर्म करता रहता है वही संन्यासी और वही योगी है, अग्नि का परित्याग करनेवाला और क्रियारहित नहीं, सर्वथा उपर्युक्त मन्त्रों के आदेश के अनुकूल है।

ऋग्वेद १०/७२/७ का **यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत** यह मन्त्र भी न केवल संन्यासियों का निर्देश 'यतय:' इस पद से करता है किन्तु साथ ही उनके कर्मयोगी होने का निर्देश 'भुवनानि अपिन्वत' इन शब्दों द्वारा करता है कि वे अपने सदुपदेशों और लोकसंग्रहार्थ किये कामों से सब भुवनों के लोगों को तृप्त करें। अन्य भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु लेख का विस्तार पहले ही अधिक हो गया है अत: मैं इसे यहीं समाप्त करता हूँ।।

सौजन्य से : डॉ. विवेक आर्य
(स्वामी जगदीशवरानन्द पुस्तकालय, दिल्ली)

अग्नि और जल संसार के सब व्यवहारों के कारण हैं, इससे गृहस्थजन विशेषकर अग्नि और जल के गुणों को जानें और गृहस्थ के सब काम सत्य व्यवहार से करें। **महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.२४**

मनुष्य का शत्रु अहंकार : कारण और निवारण

कन्हैयालाल आर्य

धर्मशास्त्रियों ने पाँच बड़े विकार माने हैं। ये विकार हैं-काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। वैसे तो प्रत्येक विकार जीवन का पतन करनेवाला है, परन्तु यहाँ चर्चा का विषय 'अहंकार' है। अहंकार 'घमण्ड' को कहते हैं। जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि मैं किसी गुण विशेष अथवा वस्तु विशेष की उपलब्धि में दूसरों से आगे हूँ। अन्य लोगों की बुद्धि कम है, मेरी अधिक है। मेरे जैसा और कोई है ही नहीं, इन विचारों के कारण व्यक्ति अहंकार का शिकार हो जाता है। वह इस संसार में उलझता जाता है और वास्तविकता को जानने का प्रयास नहीं करता। अहंकार का शिकार होते ही व्यक्ति असन्तुलित हो जाता है। वह विकारों से ग्रस्त हो जाता है। न वह ठीक सोचता है, न ठीक कहता है और न ही ठीक करता है।

अहंकार के परिणाम

अहंकार मनुष्य के जीवन में कई प्रकार की बुराइयों को ला देता है। अहंकारी व्यक्ति दूसरों को हीन समझता है। वह अपने से छोटों के प्रति घृणा का व्यवहार करने लगता है। वह उन्हें तुच्छ समझते हुए उनका उपहास करने लगता है। जो अपने से बड़े होते हैं, उनकी भी अवहेलना करने लगता है। वह गर्वोक्तियों का उच्चारण करने का अभ्यासी हो जाता है। परिणामस्वरूप वह अपने अपयश को बढ़ा लेता है। उसके कई शत्रु बन जाते हैं। अन्त में उस अहंकारी व्यक्ति को नीचा देखना पड़ता है। विकारग्रस्त होकर वह भूल जाता है कि वह अल्पज्ञ है, उससे भी कोई बड़ी शक्ति और है। इन्हीं दुर्गुणों को देखते हुए सभी अध्यात्मिक सन्तों ने अहंकार को एक महान् विकार बताते हुए इसकी निन्दा की है। डूबने के लिये एक ही कारण पर्याप्त है, वह है अहंकार। अहंकार या अभिमान नाना प्रकार के दु:खों का कारण और सब प्रकार के शोकों को देनेवाला है। धन-सम्पत्ति का लोभ छोड़ना अति सरल है, परन्तु अभिमान को छोड़ना सरल नहीं है। इस अभिमान से ऋषि, मुनि आदि भी ठगे जाते हैं। अभिमान सबको खा जाता है। अहंकार ने देवों को भी नष्ट कर दिया। देव (दिव्यगुण-सम्पन्न जन) भी यदि इसके लपेट में आ जायें तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। अहंकार तो छिछले व्यक्तियों का काम है। गम्भीर व्यक्ति अहंकार नहीं किया करते। इसी बात को संस्कृत के एक कवि ने इस प्रकार कहा है-

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दमर्धोघटो घोषमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं गुणैर्विहीना बहुधा जल्पयन्ति।।

जैसे पूरा भरा हुआ घड़ा शब्द नहीं करता, आधा भरा हुआ घड़ा खूब आवाज करता है उसी प्रकार कुलीन विद्वान् भी गर्व नहीं करता। गुणों से रहित मूर्ख ही बहुत गर्व करते हैं। गम्भीर व्यक्ति अहंकार नहीं करते।

अहंकार के कारण

(१) संसार में मनुष्य के अभिमान का प्रमुख कारण शक्ति और सत्ता है। जब मनुष्य शासन-सत्ता को हाथ में लेता है तो उसके अहंकार की सीमा नहीं रहती। बहुत बड़ी सत्ता की बात तो छोड़ो, कई बार सामान्य-सा पद प्राप्त करने पर वह इतना अहंकारी हो जाता है कि वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और अधिकारियों को भी अपमानित करने में अपना गौरव समझने लगता है। वह व्यक्ति साधारण सी सत्ता पाकर इतना पागल हो जाता है कि उसको भले-बुरे की पहचान तक नहीं होती। उसके विवेक-चक्षु बन्द हो जाते हैं। वह दूसरों को कुछ नहीं समझता। वह स्वेच्छाचारिता को अपनाता है। उसी स्वेच्छाचारिता और अहं के कारण जब दूसरों के अहं को ठेस पहुँचती है तब वे उसके विरुद्ध खड़े हो जाते हैं और उसका सर्वनाश कर देते हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हमारे समक्ष हैं।

लंका का रावण बहुत अंहकारी था। वह अयोध्या के राजा श्रीरामचन्द्र जी की पत्नी सीता जी को उठाकर ले गया। उसको उसकी पत्नी श्रीमती मन्दोदरी ने बहुत समझाया। उसके भाई विभीषण ने भी समझाया कि परस्त्रीहरण पाप है। इस पाप का प्रायश्चित्त करो और सीता जी को वापिस लौटा दो, परन्तु अपनी शक्ति और सत्ता के मद में उसने किसी की बात नहीं सुनी अन्तत:

उसे मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा।

महाभारत से भी पता चलता है कि अभिमानी दुर्योधन और उसके अहंकारी साथी किस प्रकार मृत्यु का शिकार बने। दुर्योधन से जब भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा, ''दुर्योधन जिस मार्ग को तूने पकड़ा है वह तुम्हें नाश की ओर ले जायेगा। तुम्हें पीछे पछताना पड़ेगा। तुम तो गुरु द्रोणाचार्य के शिष्य हो। तुमने धर्म का ज्ञान प्राप्त कर रखा है, फिर सोचो कि तुम क्या कर रहे हो? दुर्योधन ने उत्तर दिया- **जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति** हे कृष्ण! मैं धर्म की बात जानता हूँ। अच्छा क्या है, बुरा क्या है? यह भी मैं जानता हूँ, परन्तु धर्म में प्रवृत्ति नहीं है अर्थात् धर्म मुझे अच्छा नहीं लगता।'' इसी प्रकार दुर्योधन ने फिर कहा, **जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः,** जिसे तुम अधर्म कहते तो, उससे मैं भी परिचित हूँ, परन्तु वहाँ से हटने को मेरा मन नहीं करता। मैं जो कहता हूँ। वह ठीक है-

केनापि देवेन हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

मेरे भीतर के जो संस्कार हैं वे पुनः पुनः कहते हैं कि मैं ठीक हूँ। इसलिए आपके समझाने से मेरा कुछ भी भला नहीं होनेवाला।

यह अहंकार की भाषा है। यहाँ सत्ता और शक्ति बोल रही है। ऐसी भाषा बोलनेवाला व्यक्ति सदैव यह सोचता है कि मैं ठीक हूँ। जैसे कोई पेड़ अकड़े हुए खड़ा हो, उसे आँधी तोड़कर पृथ्वी पर बिखेर दे और टूटकर बिखरकर वह सूख जाये, तब वहाँ लहराती हुई नन्हीं घास मुस्करा कर कहती है कि स्वामी को अकड़ सहन नहीं है। यही अकड़ ही तो हमारे सर्वनाश का कारण बनती है।

(२) मनुष्य के अहंकार का दूसरा कारण है उसका शारीरिक बल, यौवन और सौन्दर्य। शारीरिक बल, यौवन और सौन्दर्य का आधार है जीवन। जब जीवन ही चिरस्थायी नहीं तो उस पर आधारित शारीरिक बल, यौवन और सौन्दर्य पर अंहकार क्यों किया जावे? मनुष्य अपने शारीरिक बल पर बहुत अभिमान करता है परन्तु वास्तविकता यह है कि पशुओं में उससे अधिक बल होता है, फिर मनुष्य क्यों व्यर्थ में अभिमान करता है?

मनुष्य यौवन और सौन्दर्य पर भी अभिमान करता है जबकि यह एक वास्तविकता है कि यौवन सदा टिकनेवाली वस्तु नहीं है और सौन्दर्य को भी कुरूपता में बदलते हुए देखा जाता है। यौवन का वृद्धावस्था में बदल जाना निश्चित है। जिस यौवन और सौन्दर्य पर व्यक्ति इतराता है वह धीरे-धीरे उसके हाथ से निकल जाता है। वृद्धावस्था में शरीर की क्या अवस्था हो जाती है उसका वर्णन भर्तृहरि जी ने वैराग्य शतक के श्लोक संख्या ९७ में इस प्रकार किया है-

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलता भ्रष्टा च दन्तावलिः
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
शब्दं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते।।

वृद्धावस्था में शरीर सिकुड़ जाता है, चाल बेढंगी हो जाती है और दाँत टूट जाते हैं, देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है, बहरापन बढ़ जाता है और मुँह से लार टपकने लग जाती है। बन्धुजन उसका आदर नहीं करते, पत्नी सेवा नहीं करती और पुत्र भी अमित्र हो जाता है।

वृद्धावस्था में आकर जब मनुष्य की यह अवस्था हो जाती है तब वह यौवन और सौन्दर्य पर क्यों अभिमान करे?

(३) मनुष्य अपने स्वजनों पर भी अभिमान करता है जबकि पिछले श्लोक में वृद्धावस्था की स्थिति बताते हुए कहा है कि वृद्धावस्था में पत्नी हो या पुत्र हों, मित्र हों या सम्बन्धी हों, सभी दूरी बनाने में ही अपना भला मानते हैं तो फिर इन स्वजनों पर भी किस बात का अभिमान? यह भी व्यर्थ है।

(४) सबसे बड़ा अहंकार विद्वत्ता का अहंकार होता है। विद्वानों को अपनी विद्या पर बहुत अभिमान होता है। जबकि सब जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकता। चाहे विद्वान् बहुत कुछ जानता होगा, परन्तु सब कुछ जानना उसके वश की बात नहीं है, क्योंकि वह अल्पज्ञ है और अल्पज्ञ कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। न्यूटन एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए हैं। उन्होंने भी अपने ज्ञान को इस प्रकार प्रकट किया था, ''मैं समुद्र के किनारे पर खड़ा हूँ। ज्ञान का विशाल समुद्र मेरे सामने ठाठें मार रहा है। मैं किनारे पर खड़ा घोंघे बीन रहा हूँ।'' संसार के प्रत्येक

विद्वान् की यही स्थिति है। वह चाहे कितना भी ज्ञानवान् हो जाये, उसकी यही स्थिति है कि वह बहुत ही कम जानता है और बहुत कुछ नहीं जानता है।

(५) मनुष्य धन, सम्पत्ति और भूमि के अधिक प्राप्त कर लेने पर अभिमान कर लेता है। यह अभिमान भी व्यर्थ है। यही भूमि, सम्पत्ति और धन जिस पर व्यक्ति अहंकार करता है, देखते ही देखते उसके हाथ से निकल जाते हैं। यदि संसार के धन और वैभव में स्थायित्व होता तो यह तुझसे मेरे पास और मेरे पास से किसी दूसरे के पास न जाता। यह धन ऐश्वर्य स्थायी वस्तु नहीं है फिर अस्थायी वस्तु पर किस चीज़ का अहंकार? जब मनुष्य संसार से जाता है तो धन-ऐश्वर्य यहीं रह जाता है।

जब व्यक्ति के पास धन होता है तो लोग उसका सम्मान करते हैं और जब व्यक्ति धन-शून्य हो जाता है तो फिर उसका अपमान कर दिया जाता है। हिन्दी के किसी कवि ने इसकी वास्तविकता का सुन्दर चित्रण किया है-

जब लग पैसा गाँठ में, यार संग संग ही डोले,
पैसा रहा न पास, यार मुख ते नहीं बोले।।

इससे पता चलता है कि यह धन चलायमान है। किसी के पास टिककर नहीं रहता। जो वस्तु टिककर रहनेवाली नहीं है उस पर अहंकार करना मूर्खता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

अहंकाररूपी रोग की दवा

(१) अभिमान का रोग सार्वभौम रोग है। उसकी विनम्रतारूपी दवा भी सार्वभौम दवा है। जब भी मन में अभिमानरूपी रोग का उदय हो तो उस पर विनम्रतारूपी औषध का लेप कर दो, अभिमानरूपी रोग पनपने ही नहीं पायेगा। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य विनम्रता कैसे धारण करे? विनम्रता धारण करने के लिये आवश्यक है कि जब मनुष्य में अहंकार का उदय हो तो वह अपने मन में यह विचार लाये कि ब्रह्माण्ड और संसार के समक्ष उसकी क्या स्थिति है? उसकी कितनी शक्ति है? वह ब्रह्माण्ड के आगे ऐसे ही है जैसे विशाल प्रवाहमान समुद्र के समक्ष एक बूँद। सुविस्तृत विशाल मरुस्थल के आगे रेत का एक कण। एक बूंद और एक कण का अस्तित्व उस विशाल ब्रह्माण्ड के समक्ष कितना है? जब इस बात पर अहंकार करनेवाला व्यक्ति विचार करेगा तो वह अहंकार को छोड़ सकेगा।

(२) अहंकार-निवारण का दूसरा उपाय यह है कि व्यक्ति मन में यह भाव लाये कि उसके सदृश और अधिक भी संसार में अनेक व्यक्ति हैं, वह केवल अकेला गुणी नहीं है। यदि किसी को भूमिपति, सम्पत्तिशाली और धनवान् होने का गर्व हो तो उसे यह विचार मन में लाना चाहिये कि उससे अधिक धनवान् और सम्पत्तिशाली व्यक्ति इस संसार में हैं, उससे अधिक उच्च पद वाले व्यक्ति हैं, उससे अधिक ज्ञानवान् व्यक्ति हैं, उससे अधिक बलवान्, सौन्दर्यवान्, ज्ञानवान् व्यक्ति हैं। इस प्रकार का विचार आते ही मनुष्य अपने अहंकार पर विजय प्राप्त कर पायेगा।

(३) अहंकार से बचने का अगला उपाय यह है कि वह अपने से ऊँची स्थितिवालों को देखें तो उसे पता चलेगा कि तुम्हारी स्थिति औरों के मुकाबले में कितनी कम है? जब इस बात पर विचार करेगा कि उसकी अपेक्षा उससे अधिक ऊँची स्थितिवाले भी कई लोग विद्यमान हैं तो उसके अहंकार पर अंकुश लगेगा।

(४) प्रत्येक व्यक्ति के भीतर देवत्व भी है और राक्षस-तत्त्व भी है। राक्षसी प्रवृत्ति मिटाने के लिये हमें आत्मविश्लेषण करना चाहिये। प्रतिदिन थोड़े समय के लिये हमें सोचना चाहिये कि हम क्या है, कहाँ से आये हैं और क्या कर रहे हैं? जीवन का लक्ष्य क्या है और किस प्रकार का जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ। थोड़ा समय ऐसा विचारेंगे तो हमारे जीवन की दशा और दिशा बदल जायेगी।

अहंकार से बचने के कई उपाय हैं, परन्तु सर्वोत्तम उपाय है सत्संग। सत्संग आपके अन्दर उचित मार्ग पर लाने का एक मार्ग बनायेगा, आपको एक वातावरण देगा। यदि वातावरण ठीक हो जाए तो आपके अन्दर सात्विकता के बीज अपने आप वैसे ही उगेंगे जैसे पूरे वर्ष पृथ्वी के भीतर बीज पड़े रह जाते हैं और जब वर्षा होती है तो पौधे अपने आप उगने लगते हैं। सत्संग का काम भी वैसा ही है कि वह आपके अन्दर एक वातावरण जाग्रत करेगा और आप सात्विकता की धारा में बहने लगेंगे। ज्यों ही वह धारा आपके अन्दर आयेगी, मनुष्यता जाग्रत होने लगेगी और अहंकार की भावना विलुप्त होती जायेगी।

एक बात देखने में आती है कि आप किसी को समझाने के लिये जाइये तो लगेगा कि कोई सुनने को तैयार नहीं है। सुन भी लिया तो बदलने के लिये तैयार नहीं है। एक स्थान ऐसा है जहाँ व्यक्ति सुनने को भी तैयार रहता है, करने और समझने के लिये भी तैयार रहता है। बस उसी स्थान का नाम सत्संग है। जहाँ बैठकर व्यक्ति सुनता भी है, समझता भी है और किसी न किसी रूप में विचार भी करता है कि कुछ न कुछ परिवर्तन मुझमें भी आना चाहिये। इसलिए अपने अन्दर की कठोरता को दूर करने के लिये सत्संग का माध्यम अवश्य अपनाइये। प्रत्येक सत्संग से प्रेरणा लेकर आइये कि मुझे अपने कुछ दोष (विशेषकर अहंकार) त्यागने के लिये तत्पर होना होगा।

सत्संग से हमारे जन्म-जन्मान्तरों के पड़े हुए संस्कार जाग्रत होंगे। जैसे कोई पत्थर पर चोट मारने जा रहा है, बहुत चोटें पड़ चुकीं, फिर अचानक अन्तिम एक चोट पड़ी और वह पत्थर टूट गया। आप सोचते होंगे कि इस अन्तिमवाली चोट ने पत्थर को तोड़ा, परन्तु नहीं। अन्तिम चोट तो पहलेवाली चोट को सार्थक करने के लिये है। इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरों के शुभ कर्म जुड़ रहे थे, नये किसी शुभ कर्म ने आपके जीवन में परिवर्तन कर दिया।

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा अहंकारी, कुकर्मी अमीचन्द को कहा गया वाक्य, ''अमीचन्द हो तो हीरे, परन्तु कीचड़ में पड़े हो।'' इन शब्दों ने अमीचन्द के जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। महर्षि दयानन्द जी द्वारा अमीचन्द को की गई इस अन्तिम चोट ने उसे भक्त अमीचन्द बना दिया। कौन जानता था कि महर्षि दयानन्द से हुई एक भेंट मुंशीराम को महात्मा मुंशीराम और फिर स्वामी श्रद्धानन्द बना देगी। यह है सत्संग का प्रभाव।

(५) इस संसार के लोगों को संसार की सुख-सुविधायें दिखाई देती हैं, अपना जन्मदिवस मनाना भी स्मरण रहता है, संसार में आना तो स्मरण रहता है, परन्तु इस संसार से जाना भी पड़ेगा,यह किसी को स्मरण नहीं आता। संसार में रहकर यदि ईश्वर और मृत्यु को स्मरण करते रहोगे तो न तो पापकर्म में लिप्त होगे और न ही अहंकार तुम्हें स्पर्श कर पायेगा। विद्वान् लोग ढोल बजा-बजा कर स्मरण कराते हैं कि हे मानव! तेरा एक-एक श्वास तीन लोकों की सम्पदा से भी अधिक मूल्यवान् है। यह अहंकार के वशीभूत व्यर्थ जा रहा है, इसे सम्भाल!

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जीवन बिताने का सुन्दर ढंग यही है कि यदि सत्ता, शारीरिक बल, सौन्दर्य, यौवन, पारिवारिक समृद्धि, ज्ञान, भूमि, सम्पत्ति इनको अस्थायी मानोगे और मृत्यु तथा परमात्मा को प्रतिक्षण मानोगे, तो अहंकार तुम्हें छू नहीं पायेगा और तुम्हारा जीवन सार्थक हो जायेगा।

मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर।

पढ़ाने में लाड़न नहीं करना योग्य है!

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते हैं, परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपा दृष्टि रखें।

(सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास २)

आभूषण

सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चाँदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नादि से युक्त आभूषणों के धारण कराने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं होता क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है।

सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास

ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं

आचार्य विरजानन्द दैवकरणि

१. वेद संहिता ईश्वरोक्त है। इनमें किसी व्यक्ति विशेष या स्थान आदि का वर्णन नहीं है।

२. ब्राह्मणग्रन्थ वेद के आधार पर वेदों के भाष्यरूप ही ऋषियों द्वारा व्याख्यात हैं, इनमें तत्कालीन राजा और ऋषि लोगों का भी वर्णन है, लौकिक मनुष्यों का विवरण होने से ये ग्रन्थ वेद नहीं कहला सकते।

३. केवल एक कात्यायन मुनि द्वारा लिखित **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इस वाक्य को लेकर ही वेद और ब्राह्मणग्रन्थों की एकता सिद्ध करने का असफल प्रयास किया जा रहा है। इस प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी भी ऋषि का कोई प्रमाण नहीं है जिससे वेद के मन्त्रभाग और ब्राह्मणग्रन्थ की एकता सिद्ध की जा सके।

४. अष्टाध्यायी के सूत्र **तृतीया च होश्छन्दसि** (२.३.३) के उदाहरण में **यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति** यह वाक्य वेद का नहीं है। सूत्र में पठित छन्द का अर्थ वेद है। आक्षेपकर्ता का कथन है कि यहाँ उदाहरण वेदसंहिता का न देकर ब्राह्मणग्रन्थ का दिया है। इससे सिद्ध है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि जी छन्द=वेद और ब्राह्मणग्रन्थ को एक ही मानते हैं। यह उदाहरण परम्परा से चला आ रहा है। अत: इस एक प्रमाण के आधार पर वेद और ब्राह्मणग्रन्थों की एकरूपता सिद्ध करना **भस्मनि हुतम्** और **प्रवाहे मूत्रितम्** की भाँति असफल प्रयास है। वेद में **अग्निं जुहोतन** और **अग्निना जुहोतन** आदि प्रयोग ढूंढे जा सकते हैं।

५. यदि पाणिनीय सूत्र के एकमात्र उदाहरण से ही ब्राह्मणग्रन्थ को भी वेद माना जा रहा है तो पाणिनि जी के छन्दसि विषयक किसी भी सूत्र के उदाहरण में वेद के अतिरिक्त किसी ब्राह्मणग्रन्थ या श्रौतसूत्र आदि का उदाहरण नहीं दिया। महाभाष्य और काशिका में प्रदत्त उदाहरणों को देखकर इस सत्यता का पता लगाया जा सकता है। जैसे-

१.	अष्टाध्यायी	१.४.८१	छन्दसि परेऽपि-नि होता सत्सि बर्हिषि -सामवेदपूर्णार्चिक प्रपाठक १.१
२.	,,	३.१.८४	छन्दसि शायजपि-गृभाय जिह्वया मधु -ऋग्वेद ८.१७.५
३.	,,	३.२.६३	छन्दसि सहः तुराषाट् -ऋग्वेद ३.४८.७
४.	,,	३.२.६४	वहश्च-हव्यवाहमुपबुवे -यजुर्वेद २२.१७
५.	,,	३.२.६५	कव्यपुरीष. कव्यवाहन: -यजुर्वेद १९.६५
६.	,,	३.२.६६	हव्येऽनन्त:पादम्-हव्यवाहन: -ऋग्वेद ६.१६.२३
७.	,,	३.२.६७	जनसनखन. दधिक्रा: -ऋग्वेद ४.३८.९
८.	,,	३.२.२७	छन्दसि वनसन.-ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिम् -यजुर्वेद १.१७
९.	,,	३.४.६	छन्दसि लुङ्लङ्.-अहं तेभ्योऽकरं नम: -यजुर्वेद १६.८
१०.,,	,,	४.३.१९	छन्दसि ठञ्-वार्षिकावृतू -यजुर्वेद १४.५
११.	,,	४.३.२०	वसन्ताच्च-वासन्तिकावृतू -यजुर्वेद १३.२५
१२.,,	,,	४.३.२१	हेमन्ताच्च-हैमन्तिकावृतू -यजुर्वेद १४.२७
१३.,,	,,	५.१.१०६	छन्दसि घस्-अयं ते योनिर्ऋत्विय: -यजुर्वेद ३.१४
१४.,,	,,	५.२.८९	छन्दसि परिपन्थि.-मा त्वा परिपान्थिनो विदन् -यजुर्वेद ४.३४
१५.,,	,,	५.४.१४२	छन्दसि च-उभयादत: -यजुर्वेद ३१.८
१६.,,	,,	६.४.७३	छन्दस्यपि.-सुरुचो वेन आव: -यजुर्वेद १३.३
१७.,,	,,	६.४.७५	बहुलं छन्दस्या.-काममूनयीत्
१८.,,	,,	६.४.७६	इरयो रे-गर्भं प्रथमं दध्रे आप: -ऋग्वेद १०.८२.५
१९.,,	,,	६.४.८६	छन्दस्युभयथा-वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे -यजुर्वेद ३.१५
२०.,,	,,	७.१.७६	छन्दस्यपि.-भद्रं पश्येमाक्षभि. -यजुर्वेद २५.१९
२१.,,	,,	७.१.७७	ई च द्विवचने-अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्. -अथर्ववेद २.३३.१, २०.९६.१७
२२.,,	,,	२.४.३९	बहुलं छन्दसि-सग्धिश्च मे -यजुर्वेद १८.९

२३.,, ,, ७.१.८ बहुलं छन्दसि अदृश्रमस्य केतव: -ऋग्वेद १.५०.३
२४.,, ,, ७.१.१०३ बहुलं छन्दसि-दूरे ह्यध्वा जगुरि: -ऋग्वेद १०.१०८.१
२५.,, ,, ७.३.९७ बहुलं छन्दसि-गोभिरक्षा: -ऋग्वेद ९.१०७.९

आक्षेपकर्ता इस उदाहरण को तैत्तिरीय ब्राह्मण का मानता है, जबकि काशिका में यही उदाहरण मिलता है जो कि यजुर्वेद का है। आक्षेप करने से पहले अन्वेषण भी कर लेना चाहिये।

ये थोड़े से उदाहरण दिखाये गये हैं। इनमें सभी उदाहरण छन्द के नाम से वेद के ही दिये हैं (यदि पाणिनि जी को, महाभाष्यकार को या काशिकाकार को ब्राह्मणग्रन्थ को वेद मानने होते तो यहाँ ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण दिये जाते।

आक्षेपकर्त्ता ने **छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि** (अष्टाध्यायी ४.२.६६) सूत्र से इन दोनों की एकता दिखाने का प्रयास किया है, परन्तु यहाँ छन्द पद से वेद न लेकर छन्दविषयक ग्रन्थों से है।

हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (२.४.२८) सूत्र में **हेमन्तशिशिरौ** प्रयोग यजुर्वेद १०.४ में तथा **अहोरात्रे** प्रयोग अथर्ववेद १०.७.६ में और यजुर्वेद १८.२३ में मिलता है। इसलिए इस सूत्र में भी ब्राह्मणग्रन्थ का प्रयोग बताना अनुचित है। आक्षेपकर्त्ता कहता है कि इस विषय में महाभाष्य के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं कि महाभाष्यकार वेद और ब्राह्मणग्रन्थों को एक मानता है, यदि ऐसा है तो आक्षेपकर्त्ता को प्रमाण देना चाहिये। महाभाष्यकार पञ्तजलि जी, पाणिनि मुनि के पूर्णत: समर्थक थे, वह पाणिनि जी से विरुद्ध नहीं जा सकते। उनके दिये गये उदाहरण प्रायश: वेदों के ही हैं। परम्परागत कोई उदाहरण वैदिक ग्रन्थों से दे दिया है तो उसे पकड़कर कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता। उस स्थल को अपवाद मान लेना चाहिये। वेद का उदाहरण ढूंढने का यत्न करना चाहिये ।

पदमंजरीकार हरदत्त को इस विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता, उनके समय में भी कात्यायन जैसी मान्यता रही होगी।

विभाषा छन्दसि (१.२.३६) सूत्र वेदमन्त्रों के उच्चारण में उदात्तादि का विकल्प मानता है। इसमें ब्राह्मणग्रन्थों का निषेध स्वयं आ जाता है, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सस्वर लेखन और पाठन नहीं होता, वे तो एक श्रुतिरूप ही पढ़े जाते हैं। अत: इस सूत्र में वेदमन्त्रों के उच्चारण में ही विकल्प बताया है, वे मन्त्र सस्वर और एक श्रुति दोनों प्रकार से बोले सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिये महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का वेदसंज्ञाविचार प्रकरण पढ़ना चाहिये। इसमें कुतर्क करने की अपेक्षा सत्यासत्य का निर्णय करना प्रमुख होता है।

संवत् १९३७ (जून १८८० ई.) में फर्रुखाबाद के गोस्वामी नारायण नामक एक विद्वान् ने महर्षि दयानन्द जी से शङ्का की थी कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं या नहीं? गोस्वामी जी अपने पक्ष में कात्यायनी के प्रमाण के अतिरिक्त और प्रमाण नहीं दे सके। उस समय ऋषि जी ने कहा कि कात्यायन के सिवाय और कोई ऋषि मुनि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद नहीं मानता, अत: कात्यायन का वचन अग्राह्य है। साथ ही अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि संहिता मात्र का ही नाम वेद है।

ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य और जनक आदि तथा गार्गी-मैत्रेयी आदि के संवाद और प्रश्नोत्तर मिलते हैं, ऐसे ऐतिहासिक संवाद वेद में नहीं हैं।

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने भी (**वाक्यविभागस्य: चार्थग्रहणात्** न्याय २.१.६०) इस सूत्र पर भाष्य करते हुए यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मणग्रन्थों के शब्द लौकिक हैं, न कि वैदिक।

महाभाष्यकार ने भी वैदिक लौकिक शब्दों के उदाहरण में वैदिक शब्दों के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्र दिये हैं। यदि वे ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते हैं तो उनके भी उदाहरण दे देते।

पाणिनि जी ने **द्वितीया ब्राह्मणे** (२.३.६०) सूत्र में ब्राह्मण शब्द पढ़ा है। इससे आगे सूत्र है **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि** (२.३.६२) यदि छन्द और ब्राह्मण एक ही होते तो इस सूत्र में छन्दग्रहण न करके पूर्वसूत्र से ब्राह्मण पद की अनुवृत्ति आ जाती। इससे सिद्ध है कि पाणिनि जी वेद और ब्राह्मणग्रन्थों को अलग-अलग मानते थे।

पाणिनि जी अष्टाध्यायी में छन्द के अतिरिक्त मन्त्र और निगम शब्द का भी प्रयोग करते हैं, यहाँ भी उदाहरण वेद के ही दिये हैं, न कि ब्राह्मणग्रन्थ के।

आर्ष गुरुकुल, झज्जर।

सनातनियों के उत्तरित प्रश्नों पर विहङ्गम दृष्टि

डॉ. रामप्रकाश वर्णी

[गताङ्क से आगे]

अब हम यहाँ पर 'पुराण' विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य ग्रन्थ क्यों है? यह सप्रमाण सिद्ध कर रहे हैं। महाभारत के एक अंशभूत 'श्रीमद्भगवद्गीता' में वासुदेव कृष्ण को 'योगेश्वर' कहते हुए उन्हें 'श्री, विजय' और 'भूति' का कारण बतलाया गया है। तद् यथा-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री र्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्ममतिर्मम।। १८।७८।।

परन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराण [ख. ३४ अ. ११५ श्लोक ५८-७२] में उन्हें मद्यपायी, दुराचारी और लम्पट बतलाया गया है। वहीं [खण्ड ३४ अ. ३/५९-६३] में उन्हें अत्यन्त लम्पट होने के कारण वृषभानुसुता-राधा के मुख से स्वपुर से [अपने सामने से] भर्त्सनापूर्वक बाहर निकलवाया गया है। जैसा कि अधोलिखित इन दोनों श्लोकों से स्पष्ट है-

हे कृष्ण विरर्जाकान्त गच्छमत्पुरतो हरे!
कथं दुनोपि मां लोल-रतिचौराति लम्पट।।
''हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि।
निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्।।''

'भविष्यपुराण' का यह सन्दर्भ श्रीकृष्ण को स्पष्ट ही 'मद्यपी' सिद्ध करता है-

तस्मिन्नहनि देवोऽपि सहान्तापुरिकैर्जनैः।
अनुभूय जलक्रीडां पानमासेवते रहः।।
भवि. ब्रह्म. अ. ७३/१७।।

अथ च ''आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च.।।
ब्रह्म वै. कृ. अ. १५५।६२।।''

यह सन्दर्भ उन्हें लम्पट बतलाने की अक्षम्य-धृष्टता करता है। इसी पुराण में बड़ी बेशर्मी और वेपर्दगी के साथ 'परस्त्रीगमन' की आज्ञा भी 'कुम्भीपाक' नामक 'नरक-विशेष' का भय दिखलाते हुए दी है-

रहस्युपस्थितांकान्तां न भजेद् यो जितेन्द्रियः।
गात्रलोम-प्रमाणाब्दं कुम्भीपाके वसेद् ध्रुवम्।।
वही अ. ३०/ ७७।।

इन दोनों पुराणों का यह लेख पुराण-रचना के उद्देश्य 'लोकमङ्गलहेतवे' (भविष्यपु. प्रति. खं. ४ अ. २५/ १२२) के अनुरूप है? यदि कहो कि नहीं, तो फिर उपर्युक्त पुराण कथन 'विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्य' नहीं तो और क्या है?

भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व. खण्ड ४ अ. १७/ ७०-७१) का यह सन्दर्भ तो 'विषसम्पृक्तान्नवत्' ही नहीं साक्षात् 'हलाहल' है-

तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन्।।
लिङ्गहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्धनः।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशंवदः।
रतिं देहि मदाधूर्णे नो चेत् प्राणाँस्त्जाम्यहम्।।

'सुभाषितरत्नभण्डागारम्' में सङ्कलित किसी पुराण के इस श्लोक में तो धृष्टता की पराकाष्ठा भी लाँघ दी है-

''पौराणिकानां व्यभिचारदोषो न शङ्कनीयः कृतिभिः कदाचन।''

पुराणकर्त्ता (व्यास) व्यभिचारजातस्तस्यापि पुत्रो व्यभिचारजातः।।

इसके साथ ही पुराणों के अद्योलिखित बुद्धिविरुद्ध अवैज्ञानिक लेख को कौन सचेता सूचीबद्ध कर सकता है-

''चतुर्मुखं प्रीणयित्वैव भक्त्या ह्यवध्यत्वं प्राप तस्मान्महात्मा।
ततो भूमिं कटवद् वेष्टयित्वा निन्ये तदा दैत्यवर्यो महात्मा।।
गरुड पु. ब्रह्मकाण्ड, उत्तर ख. ३, अ. २६/ २०

क्या यहाँ प्रचर्चित भूमि को चटाई की भाँति लपेट लेना विषसम्पृक्तान्न से भी ज्यादा भयङ्कर नहीं है? क्य यह भूमि किसी कांस्य थाली की पैंदी=तली के समान चपटी है, गोल नहीं? इसके अतिरिक्त पुराणों के अनेक प्रमाण इतने बीभत्स और अवैज्ञानिक हैं जिन्हें पढ़कर शर्म को शर्म आती है। जिनमें गणेश की उत्पत्ति, 'दारुवन' में शङ्कर का ऋषिपत्नियों के साथ 'रति-कर्म', कृष्ण का अर्जुन को अप्राकृतिकन्यभनकर्म आदि स्थालीपुलाकतया अवलोकनीय हैं। क्या इन सबके रहते हुए भी पुराणों का अध्ययन त्याज्य कोटिक नहीं है? है, अवश्य है। हम यहाँ और भी प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं-

श्रीमद्भागवत- महापुराण में उल्लेख है कि कंस की आज्ञा से 'अक्रूर जी' कृष्ण और बलराम को लाने के लिए वायु के समान तेजगति से चलने वाले रथ के द्वारा मथुरा-नगर से 'गोकुल' के लिए प्रातः काल चले और इतने द्रुतगामी रथ के द्वारा मात्र एक योजन= चार कोस की दूरी उन्होंने सूर्यास्त होने पर तय की। जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है-

'रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्।'
रथेन गोकुलं प्रातः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप।।

भागवतपुरण १०/३९/३८।।

यहाँ यह विचारणीय है कि 'मथुरा' से 'गोकुलनगर' मात्र एक योजन अर्थात् चार-कोश दूरी पर (अधिकतम २० कि.मी.) स्थित है। जिसको सम्प्रति कोई गन्ता बाइक द्वारा केवल अधिकतम २०/२५ मिनट में प्राप्त कर सकता है। फिर वह वायुवेगी रथ मथुरा से प्रातः चलकर कहाँ भटकता रहा जो सायङ्काल गोकुल पहुँचा? स्पष्ट है कि भागवत का यह लेख असत्य और अप्रामाणिक है। ऐसे असत्य के पुलन्दों को पढ़ना, अपना समय बरबाद करना ही है।

'पुराण' का लक्षण करते हुए 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत करते हुए उनके उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है, किन्तु अष्टादशपुराण-स्थानिक अत्रिसंहिता ३८४ में इसके विपरीत यह उल्लेख प्राप्त होता है-

'वेदैर्विहीनाः पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भविन्त, भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति।।'

भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अ. १ श्लोक ५४, ५५ में सुस्पष्ट लिखा है-

धर्मशास्त्राणि राजेन्द्र! शृणु तानि नृपोत्तम।
विशेषतश्च शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः।। ५४।।
आष्टादशपुराणानि चरितं रघवस्य च।। ५५५

पुराणोद्देश्य विषयक यह विवरण वदतोव्याघात-रूप तो है ही, यह बहुसंख्यक शूद्रवर्ग को वेदाध्ययन से दूर बनाये रखने का सुनियोजित पड्यन्त्र भी है। इसके सामने मालवीय जी का अन्त्यजों के बच्चों को गले लगाना, गोद में बैठना सर्वथा ही अकिञ्चित्कर है। पुराणोक्त अधिकांश 'देवता' जिनके कि नाम वेद के शब्दों में से चुनकर रख लिए गये हैं, वे या तो स्वयं व्यभिचार पङ्क में पङ्किल हैं या व्यभिचारजात हैं। अनेकत्र उनकी अर्थ और काम के प्रति बड़ी हुई आसक्ति उन्हें सामान्य मनुष्य से भी नीचे गिरा देती है। 'उतथ्य' ऋषि की पत्नी 'ममता' के साथ 'देवगुरु बृहस्पति' का कुकृत्य, दक्षपुत्री 'सती' का विवाह कराते हुए उसके सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मा जी का कामविह्वल होकर स्खलित होना, 'मोहिनी' रूप 'विष्णु' पर शिवजी का कामासक्त होकर पतित होना प्रभृति पुराण कथाएँ किसी भी व्यक्ति को व्यभिचार के पङ्क में गिराने में समर्थ हैं। लगता है ये सारे देव और देवता प्रमेह-ग्रस्त रहे हैं। संयम तो इनके पास नाम को भी नहीं है। इनकी कहानियाँ सुनकर किसी को क्या प्रेरणा मिलेगी? इससे तो यही अच्छा है कि इन्हें पढ़ा ही न जाये। वैसे भी जो 'विप्र' वेद न पढ़कर केवल 'पुराण' ही पढ़ता है, वह मनुस्मृति के लेख से केवल नाममात्र का ब्राह्मण होता है, वास्तविक ब्राह्मण नहीं। जैसा कि मनु ने कहा है-

''यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति.
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः।।''

मनु.२/१५७-१५८।।

असल में तो वह अनधीत-वेद ब्राह्मण मनु के अनुसार 'शूद्रत्व' को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि मनु का लेख है-

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।' मनु २/१६८।।

ऐसे ही लोगों के प्रति मनु को यह लिखने को बाध्य होना पड़ा है-

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बक्वृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।। वही ४/३०।।

भारतीय 'वर्णव्यवस्था' को 'गुण-कर्म-स्वभावाश्रयी' बतलाकर तथा तदनुसार वर्णपरिवर्तन के अधोलिखित उदाहरणों को प्रदर्शित करके भी आजतक उनको जन्माश्रित ही मानना इन पुराण-पन्थियों की उच्चकोटिक धृष्टता का ही प्रतीक है। तद्यथा-

''मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः, काश्यपेनैव शासिताः।
संस्कृताः शूद्रवर्णेन, ब्राह्मणवर्णमुपागवाः।
शिखा-सूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्।
यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्।।''

भविष्य पु. प्रतिसर्ग पर्व-३, खण्ड-४, अ. २०/७२-७३

'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चैत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात्।।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यातथैव च।।'

मनु. १०/६४, ६५।।

आश्चर्य तो तब होता है, जबकि भविष्यपुराण भी इस विषय में इनका साथ नहीं देता है, तद्यथा-

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियो याति विप्रत्वं विद्याद् वैश्यं तथैव च।।'

भविष्य पु. ब्राह्मपर्व-१, अ. ४०/४७।।

यदि 'वर्णव्यवस्था' 'गुण-कर्म-स्वाभावश्रित' नहीं थी तो फिर यह भविष्यपुराण का उल्लेख कैसे चरितार्थ होगा?

''जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च परा शरः''

तत्रैव ४२/२२।

भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व-३ खण्ड-४, अ. १८/२६-२८ तक श्लोकों को पढ़कर क्या लाज को भी लाज नहीं आयेगी?

'या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद् यं पुरुषं शुभम्।
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्।।
स्वकीयां सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्।
भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात्।।
इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः।
विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्।।'

ये कुछ उदाहरण हमने सनातनियों के प्रश्न-१३ के उत्तर के रूप में यहाँ लिख दिये हैं, विशेष जिज्ञासु तत्तद्ग्रन्थों को स्वयं पढ़कर देख लें।

प्रश्न-१४. वेदों ने सृष्टि का कर्त्ता और उसका 'उपादानकारण'= मैटीरियल अर्थात् कच्चामाल 'ब्रह्म' को माना है। अत: उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वही सृष्टि का 'अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण' है। अत एव ''एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः'' के अनुसार 'अद्वैतवाद' ही ठीक है, आपका त्रिक-दर्शन नहीं।

उत्तर- महोदय! वेद ने जहाँ परमेश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना है वहीं उसने सृष्टि का मूल-उपादान= मैटर 'नित्य-प्रकृति' को भी स्वीकार किया है। ईश्वर उस सृष्टि की रचना में ऐसे ही कारण है जैसे 'घट' की रचना में 'कुम्भकार', कुठार की रचना में लौहकार 'पट' की रचना में 'तन्तुवाय' और कटक-कुण्डल की रचना में स्वर्णकार आदि। जैसे- घट के निर्माता 'कुम्भकार' के गुण 'घट' में, कुठार के निर्माता लौहकार के गुण 'कुठार' में तथा तन्तुवाय के गुण 'पट' में, स्वर्णकार के गुण 'कटक-कुण्डल' आदि में नहीं आते हैं, ठीक वैसे ही ईश्वर के गुण सृष्टि में नहीं आते हैं। हाँ! जैसे घट के 'उपादानकारण' रूप 'मिट्टी' के गुण 'घट' में, कुठार के 'उपादानभूत' लौह के गुण 'कुठार' में, पट के उपादानभूत 'तन्तु-कपास' के गुण 'पट' में एवम् 'कटक-कुण्डल' के उपादान रूप 'स्वर्ण' के गुण 'कटक-कुण्डल' आदि में अवश्य विद्यमान रहते हैं। अभिप्राय यह है कि जागतिक पदार्थों में उनके जो-जो उपादान कारण हैं, केवल उनके ही गुण उनके कार्यों में अवश्य ही आते हैं। यतो हि परमपिता परमात्मा इस सृष्टि का 'उपादान-कारण' न होकर 'निमित्तकारण' है, इसलिए उसके 'चैतन्य, सर्वव्यापकत्व, सर्वज्ञत्व, सच्चिदानन्दमयत्व' आदि गुण सृष्टि में सर्वथा ही अविद्यमान रहते हैं। हाँ! जैसी 'जड़ता, एकदेशिता' प्रकृति में विद्यमान है, वैसी ही जड़ता व 'एकदेशीयता' 'उपादान कारण होने के कारण जागतिक पदार्थों में भी दृष्ट होती है। जो कि वैशेषिकदर्शन के 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टाः'' (२/१/२४) इस सिद्धान्त के अनुसर सुसङ्गत है। फलत ईश्वर इस सृष्टि का केवल 'निमित्त-कारण' है, यही समझना चाहिए। हमारे इस कथन की सम्पुष्टि निम्नाङ्कित ऋङ्मन्त्र से भी होती है-

''उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्य ज्योतिरुत्तमम्।।'' १/५०/१०।।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि 'हम सब अन्धकार' अर्थात् 'प्रकृति' से ऊपर उठकर 'अधिक-उच्च' प्रकाशमान् देवाधिदेव, उस उत्तम प्रकाशपूर्ण, गतिप्रदाता प्रभु को अनुभव करते हुए प्राप्त करें। अवधेय है कि इस मन्त्र में आये हुए 'तमस' पद से 'प्रकृति' का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार महर्षि मनु ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है-

''आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।।'' मनु. १/५

इसका आशय यह है कि प्रालेयदशा में यह जगत् सर्वथा ही न जानने योग्य, लक्षण में भी न आने योग्य, तर्क से भी अविज्ञेय और सब ओर से सोये हुओं की भाँति 'प्रकृति' में लीन था। यहाँ पर मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार पं. कुल्लूक भट्ट ने लिखा है- ''**तमः शब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्ते एवं प्रकृतिलीना अपिभावा माऽवगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः।।**'' इसका अभिप्राय भी यही है कि यहाँ 'तमः' का प्रयोग 'प्रकृति' के अर्थ में ही निहित है। इस विषय में कृष्ण द्वैपायन व्यास ने 'महाभारतम्' में भी अत्युपयोगी विचार प्रकट किये हैं, तद्यथा-

''सत्त्व-क्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः।
सृजतेऽत्रगुणानेक एको न सृजते गुणान्।
पृथग्भूतौ तु प्रकृत्या सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा।
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत्तथा।।'

महाभारत शान्ति पर्व २८५/३३-३४

इसका आशय यह है कि 'सत्त्व'= जीवात्मा और 'क्षेत्रज्ञ'= परमात्मा में सूक्ष्मतया यह अन्तर है कि इनमें से एक तो गुणोत्पादक है और दूसरा नहीं। तथापि ये दोनों प्रकृति से भिन्न-भिन्न रहते हुए भी सदा मिले हुए रहते हैं। जैसे मछली जल से भिन्न होते हुए भी उससे सदा मिली रहती है। तदेवम् 'ईश्वर, जीव, प्रकृति' ये तीनों ही स्वरूप से अनादि हैं तथा व्याप्य-व्यापक भाव से मिले रहते हैं। इनमें से कभी भी किसी का अभाव नहीं होता है।

परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित पुस्तकों पर विशेष छूट

पुस्तक का नाम	वास्तविक मूल्य रुपये	छूट के साथ मूल्य रुपये
अष्टाध्यायी भाष्य (तीनों भाग)	५००	३५०
महर्षि दयानन्द सरस्वती का पत्र-व्यवहार (दोनों भाग)	८००	५००
कुल्लियाते आर्यमुसाफ़िर (दोनों भाग)	९५०	६००
डॉ. धर्मवीर का सम्पादकीय संकलन (तीन भाग)	५००	२५०
पण्डित आत्माराम अमृतसरी	१००	७०
महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ	१५०	१००
वेद पथ के पथिक	२००	१००
महर्षि दयानन्द के हस्तलिखित-पत्र	२००	१००
स्तुतामया वरदा वेदमाता	१००	७०

यजुर्वेद भाष्य (महर्षि दयानन्द सरस्वती) पृष्ठ संख्या- २१९७, चारों भागों का मूल्य = १३००/-
डाक-व्यय सहित विशेष छूट पर उपलब्ध मूल्य = १०००/-

पुस्तकों हेतु सम्पर्क करें:- दूरभाष - 0145-2460120

वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से क्रय की जाने वाली पुस्तकों की राशि ऑनलाइन जमा कराने हेतु

खाताधारक का नाम - **वैदिक पुस्तकालय, अजमेर।**

बैंक का नाम - **पंजाब नेशनल बैंक, कचहरी रोड, अजमेर।**

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या - **0008000100067176**

IFSC - PUNB0000800

लेखकों से निवेदन

- लेखक कृपया अपने मौलिक व अप्रकाशित लेख ही भेजें।
- लेखक अपना पूरा पता व चल-दूरभाष संख्या लेख के साथ अवश्य लिखें।
- परोपकारिणी सभा द्वारा रचनाओं के लिए किसी प्रकार का भुगतान नहीं किया जाता है।
- अपनी रचना की एक प्रति कृपया अपने पास रखकर भेजें, क्योंकि अस्वीकृत रचनायें डाक द्वारा लौटायी नहीं जाती हैं।
- रचना के प्रकाशन में छः माह या अधिक समय भी लग सकता है, अतः कृपया तब तक रचना को अन्यत्र न भेजें।
- स्वीकृत रचना परोपकारी के किसी आगामी अङ्क में देखी जा सकती है।

-सम्पादक

जो विद्या की वृद्धि के लिए पठन-पाठन रूप यज्ञ कर्म्म करने वाला मनुष्य है वह अपने यज्ञ के अनुष्ठान से सब की पुष्टि तथा संतोष करने वाला होता है इससे ऐसा प्रयत्न सब मनुष्यों को करना उचित है।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.२७

संस्था की ओर से....

क्या आप प्रतिदिन अतिथि यज्ञ नहीं कर पाते?

तो आइये, अतिथि यज्ञ के होता बनिये

वैदिक नित्यकर्मों में अतिथि यज्ञ प्रतिदिन करना अनिवार्य है, किन्तु आपको प्रतिदिन अतिथि मिलना संभव नहीं, फिर अतिथि यज्ञ कैसे किया जाय? इसका उपाय है, कुछ राशि प्रतिदिन अतिथि यज्ञ के नाम से निकाल ली जाये और उसको एकत्र कर अतिथि सत्कार में गुरुकुल में भोजन आदि के सहयोग में दे दी जाय।

यह अल्प राशि आप दैनिक संचय घट में जमा भी कर सकते हैं, वर्ष में लोग अरबों रुपए आग में पटाखे जलाकर व्यय करते हैं, असावधानी से बिजली जलती छोड़ इसे गंवा देते हैं आदि ऐसी छोटी-छोटी असावधानियों को रोक कर हम उसकी बचत राशि इस पावन कृत्य हेतु सभा को वर्ष में आसानी से दे सकते हैं।

सभा के धार्मिक क्रियाकलापों एवं आवासीय स्थल ऋषि उद्यान में उपर्युक्त पावन क्रियाकलाप लम्बे समय तक अबाध चलते रहें, इसके लिए सभा की योजना है कि प्रतिदिन प्रतिवर्ष ५ हजार एक सौ रु. की राशि प्रदान करने वाले उदार यशस्वी दानदाताओं का नाम अतिथि यज्ञ के स्थायी सदस्यों में अंकित किया जाता है ऐसे सज्जनों के नाम का परोपकारी में प्रकाशित भी किये जाते हैं।

यदि अपने सामर्थ्य के अनुसार राशि को न्यूनाधिक करना चाहें तो आपकी स्वतन्त्रता है अधिक से अधिक लोग परोपकारिणी सभा से जुड़ सकें, आप ऐसा करके ऋषि दयानन्द के कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होंगे इसलिए ऐसी राशि निश्चित की है। आप से प्रार्थना है अपना नाम पता और संकल्प लिखकर अवगत करायें और अतिथि यज्ञ के होता बनें। अपनी राशि प्रतिमाह अथवा सुविधानुसार मनीआर्डर/डीडी/चैक द्वारा अथवा स्वयं उपस्थित होकर कार्यालय में जमा करा सकते हैं। आपका दान ८०जी (आयकर की धारा) के अंतर्गत कर मुक्त होगा।

अनेक 'अतिथि यज्ञ के होता' सदस्यों का आग्रह है, निश्चित तिथि जन्मदिन, विवाह वर्षगांठ या विशेष अवसर पर वे अपनी ओर से संस्था में भोजन कराना चाहते हैं। ऐसे महानुभावों से निवेदन है कि वे अतिथि यज्ञ के होता के रूप में एक दिन के भोजन व्यय की राशि लगभग पाँच हजार एक सौ रुपये भेजते हुए इच्छित दिन का विवरण सूचित करेंगे तो उन्हें उनके जन्मदिवस आदि पर परोपकारिणी सभा की ओर से दूरभाष द्वारा आशीर्वाद प्रदान किया जायेगा। यदि उस शुभ अवसर पर वे स्वयं उपस्थित होकर यजमान बनें तो यह सर्वोत्तम होगा।

अतिथि-यज्ञ के होताओं से अनुरोध

अतिथि-यज्ञ के होताओं से उनकी वैवाहिक वर्षगाँठ अथवा जन्मदिन व विभिन्न अवसरों पर ५१०० रु. प्रतिवर्ष सभा को प्राप्त होते रहते हैं। जो महानुभाव संकल्प के साथ इस पुनीत कार्य से जुड़े हुए हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपनी राशि भेजते समय **जन्मतिथि/वैवाहिक वर्षगाँठ आदि व दूरभाष संख्या** सूचित करना न भूलें। साथ ही यह भी अवश्य सूचित करा देवें कि पहले से भिजवा रहे हैं अथवा नया शुरू किया है। आप अपनी राशि सभा के बैंक खाते में नकद अथवा चैक द्वारा जमा करा सकते हैं।

परोपकारिणी सभा की गतिविधियाँ

परोपकारिणी सभा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी सभा है और केवल नाम से ही नहीं, बल्कि अपने कार्यों से भी वह ऋषि के उत्तराधिकार के दायित्व को पूर्णतया निभा रही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती

ने इस सभा की स्थापना के समय तीन उद्देश्य रखे थे।

१. वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रकाशन २. विद्वान् उपदेशक तैयार करके देश-विदेश में वैदिक धर्म का प्रचार एवं ३. आर्यावर्त्तीय दीन-दरिद्रों की सेवा।

इन सभी कार्यों को सभा अपने विभिन्न प्रकल्पों के माध्यम से पूरा करने में सर्वसामर्थ्य से लगी हुई है। यद्यपि सभा के पास आर्थिक आय का कोई स्थाई माध्यम नहीं है, पुनरपि ऋषिभक्तों एवं आर्यजनों के सहयोग और विश्वास पर ही सभा ने बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ किया और निरन्तर कर भी रही है। आचार्य डॉ. धर्मवीर जी, जो कि वर्तमान में परोपकारिणी सभा के प्रधान एवं मूल स्तम्भ थे, उनका कहना था कि **''कार्य यदि अच्छा है तो उसे प्रारम्भ कर देना चाहिये, सहयोग तो स्वयं ही मिल जाता है।''** यही शैली अपनाकर आज भी वैदिक विचार के प्रचार का कार्य निरन्तर जारी है। डॉ. धर्मवीर जी के जाने से सभा को बड़ा आघात अवश्य लगा है, परन्तु आर्यों का स्नेह, भरोसा उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को रुकने नहीं देगा-ऐसा सभा को पूर्ण विश्वास है।

परोपकारिणी सभा आज अनेक कार्यों, माध्यमों से इस वेद प्रचार यज्ञ में लगी है, जिसकी सूची यहाँ दी जा रही है-

भव्य ऋषि उद्यान आश्रम, अतिथि यज्ञ, भोजनशाला, गौशाला, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम, गुरुकुल, परोपकारी पत्रिका, प्रकाशन, योग साधना एवं चरित्र निर्माण शिविर, सत्यार्थ प्रकाश व ऋषि जीवन चरित्र का नि:शुल्क वितरण, पाण्डुलिपियों का डिजिटलाइजेशन, पुस्तकालय, औषधालय, देश-देशान्तरों में वेद-प्रचार, आयुर्वेदिक औषधालय।

गुरुकुल के लिये प्रवेश-सूचना

परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा संचालित महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान-अजमेर में वैदिक धर्म एवं आर्यसमाज के उपदेशक तैयार करने हेतु उपदेशक कक्षा में प्रवेश प्रारम्भ हैं।

प्रवेशार्थी की न्यूनतम आयु १४ वर्ष तथा कक्षा आठ या उससे अधिक उत्तीर्ण हो। आर्ष-पद्धति से संस्कृत व्याकरण, दर्शन, उपनिषद्, वक्तृत्व कला तथा महर्षि निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अध्यापन की व्यवस्था है।

गुरुकुल में अध्यापन, भोजन एवं आवास **नि:शुल्क** है।

प्रवेश के इच्छुक अभ्यर्थी सम्पर्क करें-

आचार्य, आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, पुष्कर रोड, अजमेर।

दूरभाष- ०८८२४१४७०७४, ०१४५-२४६०१६४, ०१४५-२६२१२७०

परोपकारिणी सभा के प्रकल्पों में सहयोग करने हेतु

खाताधारक का नाम - परोपकारिणी सभा, अजमेर (PAROPKARINI SABHA AJMER)

१. बैंक का नाम-**भारतीय स्टेट बैंक, डिग्गी बाजार, अजमेर।**

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या-**10158172715**

IFSC-SBIN0007959

२. बैंक का नाम-**आई.डी.बी.आई**, पावर हाउस के सामने, जयपुर रोड, अजमेर।

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या-**091104000057530**

IFSC-IBKL0000091 email : psabhaa@gmail.com

दानदाताओं की सूची

अतिथि यज्ञ के होता

(१३ से ३० जून २०२१ तक)

१. श्री ईश्वर लाल ठन्ना, उज्जैन २. जस्टिस प्रीतमपाल सिंह, चण्डीगढ़ ३. श्री सुधीर कुमार साहनी, नासिक ४. श्रीमती अरुणा गौड़, अजमेर ५. श्री कैलाशचन्द जोशी, अजमेर ६. श्री आर्यमुनि, अजमेर ७. श्री प्रकाश राठी, सोनीपत ८. श्री अशोक कुमार वर्मा, अजमेर ९. श्री उत्तमचन्द वर्मा, दिल्ली १०. श्री गणपतदेव, अजमेर।

गोभक्तों से निवेदन

ऋषि-उद्यान में परमार्थ हेतु गोशाला संचालित है। गोशाला की गौवों के दूध का वितरण सभी गुरुकुलवासियों, संन्यासियों एवं आगन्तुक अतिथियों में नि:शुल्क किया जाता है। आप सभी गो-भक्तों एवं उदारमना दानदाताओं से सभा का निवेदन है कि गौवों को उत्तम चारा मिले, इसके लिए जो भी सज्जन चारा दान देना चाहें उनका स्वागत है। यदि आप दूरस्थ प्रदेश के हैं तो कृपया चारे हेतु अनुमानित राशि सभा को ड्राफ्ट/चैक/नगद भेज सकते हैं। यशस्वी दानदाताओं के नाम परोपकारी पत्रिका में प्रकाशित किए जाएँगे। आपका दान गौवों के संवर्धन में सहायक होगा।

ऋषि-उद्यान में संचालित गोशाला के दानदाता

(१३ से ३० जून २०२१ तक)

१. श्रीमती प्रकाशवती राठी, सोनीपत २. डॉ. राधेश्याम आर्य, बीकानेर ३. श्रीमती कीर्ति विपिन लरमारिया, बैंगलोर ४. श्री हेमन्त शारदा, अजमेर ५. श्री माणकचन्द जैन, छोटीखाटु।

अन्य प्रकल्पों हेतु सहयोग राशि

१. डॉ. राजपाल सिंह, बड़ौत २. श्री चेतनप्रकाश, हिसार ३. श्री रामलखन आर्य, बहराइच ४. श्री सुखलाल आर्य, टोंक ५. श्री जयप्रकाश शर्मा, अजमेर ६. श्री दयालदास आहुजा, रायपुर ७. डॉ. राधेश्याम आर्य, बीकानेर ८. श्री पकंज दीवान, नई दिल्ली ९. श्री विपिन कुमार, नई दिल्ली १०. श्री आर. सत्यनारायण रेड्डी, हैदराबाद ११. श्रीमती निधि आर्य, बैंगलोर १२. श्री अरुण गुप्ता, नोएड़ा।

वैदिक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित नया साहित्य

१. महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ **पृष्ठ :** २१६ **मूल्य :** १५०

यह पुस्तक महर्षि के सभी शास्त्रार्थों का संग्रह है। यद्यपि सभा यह संग्रह दयानन्द ग्रन्थमाला में भी प्रकाशित कर चुकी है, पुनरपि पाठकों की सुविधा के लिए इसे पृथक पुस्तक रूप में भी प्रकाशित किया गया है।

२. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा **पृष्ठ :** ८० **मूल्य :** ३०

महर्षि दयानन्द ने अलग-अलग समय व अवसरों पर अपने जीवन सम्बन्धी विवरण का व्याख्यान किया है। जिनमें थियोसोफिकल सोसाइटी को लिखा गया विवरण, भिड़े के बाड़े में दिया गया व्याख्यान एवं हस्तलिखित विवरण आदि हैं। इन सभी विवरणों को ऋषि के हस्तलिखित मूल दस्तावेजों सहित सभा ने एकत्र संकलित किया है।

३. काल की कसौटी पर **पृष्ठ :** ३०४ **मूल्य :** २००

यह पुस्तक डॉ. धर्मवीर जी द्वारा लिखित सम्पादकीय लेखों का संकलन है। विषय की दृष्टि से इस पुस्तक में उन सम्पादकीयों का संकलन किया गया है, जिनमें धर्मवीर जी ने आर्यसमाज के संगठन को मजबूत करने एवं ऋषि के स्वप्नों के साथ-साथ उन्हें पूरा करने का मन्त्र दिया है।

४. कहाँ गए वो लोग **पृष्ठ :** २८८ **मूल्य :** १५०

आर्यसमाज या आर्यसमाज के सांगठनिक ढांचे से बाहर का कोई भी ऐसा व्यक्ति जो समाज के लिए प्रेरक हो सकता है, उन सबके जीवन और ग्रहणीय गुणों पर धर्मवीर जी ने खुलकर लिखा है। उन सब लेखों को इस पुस्तक के रूप में संकलित किया गया है।

५. एक स्वनिर्मित जीवन - मास्टर आत्माराम अमृतसरी **पृष्ठ :** १७४ **मूल्य :** १००

आर्यसमाज के आरम्भिक नेताओं की सूची में मास्टर आत्माराम अमृतसरी का नाम प्रमुख रूप से आता है। प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु द्वारा लिखी अमृतसरी जी की यह जीवनी पाठकों को आर्यसमाज के स्वर्णयुग से परिचित कराएगी।

‘सत्यार्थ प्रकाश’ एवं ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ प्रचार महायज्ञ में आपकी आहुति

महर्षि दयानन्द सरस्वती का अमर ग्रन्थ ‘सत्यार्थप्रकाश’ आर्यों का ब्रह्मास्त्र है। ऐसा ब्रह्मास्त्र, जिसने अविवेक, पाखण्ड, अन्धविश्वासों का दमन कर समाज में एक नई क्रान्ति ‘वैचारिक क्रान्ति’ को जन्म दिया। अन्धश्रद्धा, अविवेक और पाखण्ड मानव समाज में सहज ही पनपने वाली समस्या है, इसलिये प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक परिस्थिति में इन समस्याओं के उन्मूलन की आवश्यकता है-अत: ‘सत्यार्थ प्रकाश’ की आवश्यकता भी सदैव ही अनिवार्य रहेगी, परन्तु यह विचार जन-जन तक पहुँचे, तो ही लाभकारी होगा। इसी को ध्यान में रखते हुए परोपकारिणी सभा ने ७ वर्ष पूर्व ‘विश्व पुस्तक मेला’ दिल्ली में प्रतिवर्ष ‘सत्यार्थप्रकाश’ के साथ ‘महर्षि का जीवन-चरित्र’ एवं ‘आर्याभिविनय’ पुस्तक का नि:शुल्क वितरण करने की योजना बनाई, जो निरन्तर चल रही है। इस कार्य के परिणाम भी बहुत सुखद रूप में सामने आये हैं। पुस्तक में कई व्यक्ति आकर कहते हैं कि हमारे पास यह पुस्तक है, हम पिछले वर्ष ले गये थे।

प्रत्येक आर्यमात्र की यह इच्छा होगी कि वह भी इस ग्रन्थ को वितरित कर पुण्य का भागी बने। इसके लिये सभा प्रत्येक आर्य को इस महायज्ञ में सम्मिलित करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ में अपनी आहुति दे तो यज्ञ और अधिक भव्य एवं विस्तृत हो जाता है। ‘सत्यार्थप्रकाश’ ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ के नि:शुल्क वितरण रूपी यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिये आप अपने सामर्थ्यानुसार सहयोग दे सकते हैं। परोपकारिणी सभा की ओर से ये पुस्तकें बड़े अक्षरों में, बढ़िया कागज पर, सजिल्द छापी जाती हैं, जिससे नये व्यक्ति के लिये भी पुस्तक संग्रहणीय बन जाती है। एक सैट की छपाई का खर्च लगभग १५० रु. आता है। **यदि कोई व्यक्ति अपनी सात्त्विक भावना से केवल २० पुस्तकें (इससे अधिक कितनी भी) ही वितरित करवाना चाहता है, तो सभा उतनी प्रतियों पर दानी व्यक्ति का नाम छपवाकर वितरित करेगी। इसी प्रकार ३०, ५०, १००, १००० आदि।**

१५० रु. प्रति के अनुसार आप दान देकर अपनी ओर से, अपने नाम से पुस्तक वितरित करा सकते हैं। आहुतियाँ जितनी अधिक होंगी, यज्ञ का फल भी उतना ही अधिक होगा।

अपने दान के साथ ‘सत्यार्थप्रकाश वितरण’ अवश्य लिख देवें, और साथ ही अपना नाम एवं पता भी। यह दान आप परोपकारिणी सभा के खाते में ऑनलाइन, चैक द्वारा या फिर परोपकारिणी सभा के पते पर मनिऑर्डर भी कर सकते हैं। यह यज्ञ आपका है, प्रत्येक आर्य का है। अत: प्रत्येक आर्य इसमें अपनी आहुति अवश्य दे।

न्यूनतम	२० प्रतियाँ	३०००/- रु.
	३० प्रतियाँ	४५००/- रु.
	५० प्रतियाँ	७५००/- रु.
	१०० प्रतियाँ	१५०००/- रु.
	५०० प्रतियाँ	७५०००/- रु.
	१००० प्रतियाँ	१,५०,०००/- रु.

इस प्रकार जितनी अधिक प्रतियाँ बाँटना चाहें, उतनी और दूरभाष संख्या के साथ भेज देवें। दान अक्टूबर माह के अन्त तक भिजवा देवें, ताकि प्रतियों की संख्या निर्धारित करके उन पर दानदाताओं का नाम अंकित किया जा सके। धन्यवाद।

मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर

जैसे वेद के वेत्ता विद्वान् लोग वेदानुकूल मार्ग से परमेश्वर को जानकर उत्तम ज्ञान से उसका सेवन करते हैं वैसे ही जगदीश्वर सबको उपासनीय अर्थात् सेवन करने के योग्य है, वैसे ज्ञान के विना ईश्वर की उपासना कभी नहीं हो सकती क्योंकि विज्ञान ही उसकी अवधि है।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.४